भक्त और भगवान

सम्पादक—

पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी

भूमिका

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः ।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥

अथर्व १०।८।४४

वेदों में भगवान् को रस से पूर्ण—रस तृप्त—कहा गया है। वे रस रूप ही हैं—

रसो वै सः ।

उस रस को प्राप्त कर लेने पर ही मनुष्य सच्चा और अमर आनन्द प्राप्त करता है। रस के सागर ब्रह्म को जानने की कला का नाम मधुविद्या है। वेदों में, उपनिषदों और ब्राह्मणों में जिस मधु-रस का नाना प्रकार से वर्णन है वही भक्तों की भक्ति है।

मनुष्य, स्वभाव से ही रस का भावुक है। वह भ्रमर बनकर जगत् के अनेक खिले हुए पुष्पों में से मधु प्राप्त करने का संतत प्रयत्न करता रहता है। परन्तु वह यह भूल जाता है कि इस लौकिक मधु से भी अत्यन्त विलक्षण स्वादुसम्पन्न भगवद्रस को आत्मसात् करने का मधु है। उसके माधुर्य को जिसने जान लिया है, उसे पुनः अन्य कुछ प्राप्त करने की आकाङ्क्षा नहीं रहती। वह रस से तृप्त या रसपूर्ण होकर आनन्द में लीन हो रहता है।

एक बात विशेष है। यह दिव्य मधु रस सर्वत्र और सर्वदा सहस्र धाराओं में फूट कर बह रहा है। एक एक पत्र और पुष्प के भीतर से इसकी अमृत-मन्दाकिनी का पुनीत प्रवाह निर्गलित हो

रहा है। हमारे श्वास-प्रश्वास में भी यह रस संपृक्त है। प्राणापान की प्रत्येक लहर मधु-सिञ्चित है। अतएव जिस रस को विद्वान् पंडित अनेक शास्त्रों का मथन करके सम्भव है कभी पा जाय, उसीको एक सरल प्रकृति बालक या स्त्री भी अनायास ही पा सकते हैं। भक्तों के लिए यही बड़ा बल है। इस राजमार्ग में बहकने की कहीं सम्भावना नहीं है।

भक्त के मन में दो विश्वास खूब दृढ़ रहते हैं। प्रथम यह कि रस रूप ईश्वर सर्वत्र है, घर में वन में, बालपन युवापन और वृद्धपन में सदा ही रस रूप ईश्वर विराजमान हैं। दूसरे यह कि वह व्यापक रस, प्रेम से प्राप्त किया जा सकता है। अपने हृदय में जितना अधिक प्रेम होगा, उतनी ही तीव्र अनुभूति दिव्य रस की हमें प्राप्त हो सकती है। इन्हीं विराट् नियमों को तुलसीदास जी ने निम्नलिखित पंक्तियों में कहा है :—

हरि व्यापक सर्वत्र समाना।
प्रेम तें प्रकट होहिं मैं जाना॥
देस काल दिसि बिदिसहु माहीं।
कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥
अग-जग-मय सब रहित बिरागी।
प्रेम तें प्रभु प्रगटैं जिमि आगी॥
मोर बचन सबके मन माना।
साधु साधु करि ब्रह्म बखाना॥

इन अविचल विश्वासों से प्रेरित होकर भक्तों ने स्वकूटस्थ प्रेम प्रवाह के बल पर भगवान् के साथ अपने सम्बन्धों की अनेक भांति से कल्पना करके अपने काव्यों में उसे प्रगट किया है। उनका जीवन उनके काव्यों का सर्वोत्तम भाष्य था।

प्रस्तुत पुस्तक 'भक्त और भगवान' के लेखक ने अत्यन्त भावुकतापूर्ण शैली में भक्त कवियों के हृदयों में प्रतिबिम्बित भगवान् के अनन्त दर्शनों का बहुत रुचिर ढंग से वर्णन किया है। रस के लोभी भ्रमरों को यह पराग सामग्री अवश्यमेव रुचेगी। इसमें बड़े यत्न और कौशल से काव्य-पदों का संग्रह किया गया है। अपनी निजी शैली से उन्हें यथास्थान सजा कर लेखक ने हिन्दी जगत् को एक स्पृहणीय ग्रन्थरत्न भेंट किया है, इसके लिए वे बधाई के पात्र हैं।

मथुरा
२०-२-३४

वासुदेव शरण अग्रवाल
एम० ए०, एल-एल० बी०

सम्पादकीय वक्तव्य

भरनि नेह नवनीर नित, बरसत सुरस अथोर ;
जयति अपूरब घन कोऊ, लखि नाँचत मन-मोर ।

लो, आज दूसरी बार फिर 'दिल्ली के पाचवें सवारों में' अपना नाम "नॉमिनेट" कराने के निमित्त ग्रंथकार बनने की उद्दाम लालसा से, पराये माल और नाम पर हाथ साफ कर सहृदय जनता के सम्मुख समुपस्थित हो रहा हूँ। अपने अनाड़ी हाथों से दूसरे की चुस्त-दुरुस्त काव्य-कला की उर्वरा भूमि को धृष्टतापूर्वक पागलपन से धूलि-धूसरित करता हुआ विक्षिप्तता की बहार बिखेर रहा हूँ।

शोर मेरे जुनू का जिस जाँ है,
दख्ले-अक्ल उस मुकाम में क्या है।

लेकिन प्रकाशक जी के साथ-ही-साथ अनेकगुणावलम्बित पं० हनूमान-प्रसादजी शर्म्मा, वैद्यशास्त्री—जिन्हें किस मुख से कहूँ कि वे मेरे अभिन्न मित्र हैं—की परम अनुकंपा ने मुझ-जैसे आलसी और कोरी बात बनानेवाले निकम्मे को अपनी प्रेम-जंजीर से जकड़ कर यह ऊल-जलूल जैसा कुछ बन सका लिखा ही लिया, मुझे अपना बना ही लिया—"सरमद बकूए-इश्क बदनाम शुदी" की तरह आखिरकार ग्रंथकार बनाकर ही छोड़ा। "यों यूँ भी वाहवा है और यूँ भी वाहवा है" समझ कर फिसल पड़ा हूँ; क्योंकि जानता था कि अब किसी तरह इनसे जान छुटने की नहीं, इसलिए विवश हो टाँग अड़ानी ही पड़ी।

कुछ भी न चली इश्क में तदबीर किसी की,
तदबीर पर हँसती रही, तकदीर किसी की।

और फिर क्यों न टाँग अड़ाता—उनकी आज्ञा का पालन क्यों न

करता ? क्योंकि इस अधमाधम शरीर के सारे कल-पुर्जे तो उन्हीं के हाथ थे ! फिर टाल-टूल कैसे करता ? लेकिन है यह अनधिकार चेष्टा ! भला जिसने भक्त-भाव की भव्य विभूति के कमनीय कण कभी न परखे हों—कभी न निरखे हों, वह उस—

> लिखन बैठि जाकी सबहि, गहि गहि गरब गरूर ;
> केते भए न जगति मैं, चतुर चितेरे कूर ।

अर्थात्—उन भक्तों के दिव्यातिदिव्य भव्य भावों का और उनके अलौकिक लावण्यमय भावविभूषित सरस सौंदर्य का चित्र जिसे कोई भी चित्रित न कर सका, न खींच सका। वियोगी हरि जैसे चतुर चितेरे खाली हाथ झाड़ कर अलग हो गये। उसका खाका भी न खींच सके, योंही हार मान कर बैठ रहे। उस पर कलम चलाने का प्यार भरा आग्रह ! यह बला मेरे सिर. क्या कहूँ ! जिसने कभी इस पाक कूचे में भूल कर भी पैर न रखा हो, जिसके सांसारिक वासनामय हृदय में कभी भक्त-भाव की क्षणिक प्रभा भी प्रस्फुटित न हुई हो—उसका यत्किंचित् आभास भी न अटका हो, अथवा यों कहिये कि जिसका हृदय "अज्ञानतिमिरान्ध" से एकदम अलंकृत हो, जिसने भूल कर कभी अपने मद-विभोर उन्मीलित नेत्रों में "ज्ञानाञ्जनशलाका" की आवश्यकता न समझी हो, उससे यह दुर्द्धर्ष इच्छा कि "भक्त और भगवान" पर कुछ लिख—उनके प्रेम-प्रपीडित हृदय के आन्तरिक हाव-भाव की, उनके रूठने-मनाने की, बनने-बिगड़ने की, आड़ी-टेढ़ी सुनाने की एक तस्वीर खींच दे; उनकी भव्य भावनाओं में विभोर हो कुछ लिख दे ! हरे, हरे ! महान दुस्तर-कार्य-संपादन करने जैसी आज्ञा है ! पर, प्रेम के आगे कुछ न चली और इन टेढ़ी-मेढ़ी चंद सतरों के साथ हाजिर होना ही पड़ा।

> नसीब हो न सकी दौलते-कदम-बोसी ,
> अदब से चूम के हजरत का आस्ताना चले ।

यह तो मैं पहले ही निवेदन कर चुका हूँ कि उक्त विषय पर कुछ

लिखना एकमात्र अनधिकार चेष्टा थी। पर प्रेम में आकर वियोगी हरिजी के अनेक खूबियों से खचित खजाने पर 'डाका' डाल ही तो दिया अर्थात—इधर-उधर से दो-चार शब्द जुटा कर, ग्रंथकार बनने के हौसले में आकर, उनके रमणीय रत्नागार पर छापा मारने का—परम हास्यास्पद प्रयत्न करने का दुस्साहस दिखा ही तो दिया ! उनके रमणीय रत्नराशि पर मचलते हुए हृदय की हसरतों को, घुट-घुट कर न रहने वाली अनन्त आकांक्षाओं को निकाल कर कागज रँगना आरंभ कर दिया। आगे जो कुछ हो, क्योंकि अब तो—

अँसुवन जल सींचि सींचि प्रेम बेलि बोई ;
अब तो बेलि फैल गई, आनँद-फल होई।

अस्तु; अश्रु-जल से अभिषिक्त भक्तहृदयोद्यान की प्रेमरूप अमर-बेलि के खिले, अधखिले अथवा बे-खिले कुछ उद्गारपुष्पों को, उनके ही सुयश-डोरे में पिरो कर यह हार तैयार किया है। उनकी अनुपम उक्तियाँ स्वरूप कोमल कलेजे के टुकड़े को—उनकी सुमधुर आहों को, यत्र-तत्र से बटोर-बटार कर इकट्ठा किया है; उसमें मैं अपना क्या समझूँ ! अतः—

निधौ रसानां निलये गुणानामलंकृतीनामुदधावगाधे ;
काव्ये कवीन्द्रस्य नवार्थतीर्थे या व्याचिकीर्षा ममता नतोस्मि।

विद्वद्वृन्द ! प्रणयानुरोध के इस उद्दाम आनन्द में उसकी गुनन गरूली गाथा-रूप प्रेम-मदिरा में गर्क हो एक बात तो भूला ही जाता हूँ, वह यह कि यार लोगों ने मेरे "प्रैम, नैम, रैन, नैन, मौहन, सौहन" आदि ब्रज-भाषा के शुद्धोचारण-अनुसार रूप उल्लेख करने पर मुझे जिन-जिन उपाधियों से अलंकृत किया है और आगे करेंगे, उसके लिए धन्यवाद ! पर, जैसा कि पूर्व, मैं एक दफे लिख चुका हूँ कि "हम रत्नाकरी आधुनिक स्टाइल के कायल नहीं हैं, उसके नवीन रूप के मायल नहीं; अपितु उसी प्राचीनता के पुजारी हैं, उसी स्वरूप के अभिलाषी हैं, नूतनता के नहीं।"

अंत में "परस्पर प्रशंसन्ति अहो रूपमहो ध्वनिः" के अनुसार अपने

अभिन्न मित्र श्री वासुदेवशरण जी अग्रवाल, एम० ए० एल-एल० बी० का इस नाचीज "ग्रंथ" पर भूमिकास्वरूप दो शब्द लिखने पर तथा प्रकाशक जी को प्रकाशित करने के लिए साधुवाद देता हुआ पुनः पुनः यही कहूँगा कि इस ग्रंथ के लिखने का जो कुछ श्रेय है, जो कुछ प्रशंसा है, वह "श्री वियोगी हरिजी" को है, मुझे नहीं; क्योंकि यह उन्हीं की चीज थी, मैं ने तो "श्री वाचस्पति मिश्र" की निम्न अनुपम उक्ति का—

> काराः ! कृताञ्जलिरयं वलिरेष दत्तः
> कार्यो मया प्रहरतात्र यथाभिलाषम् ;
> अभ्यर्थये वितथवाङ्मयपांशुवर्षै—
> र्मा माविलां कुरुत कीर्तिनदीः परेषाम् ।

—जरा भी खयाल न कर इसे खूब उलटा और बिगाड़ा है, कुरूप करने का बलात् दुस्साहस किया है । पर—

> बररे बालक एक सुभाऊ ;
> इनहि न संत विदूषहि काऊ ।

समझ कर जो कुछ दुराग्रह किया है, जो कुछ अनधिकार चेष्टा की है, उसे "क्षम्यतां परमेश्वरः" समझ कर क्षमा करें ।

मथुरा,
होली १९९०

जवाहरलाल चतुर्वेदी

प्रकाशकीय निवेदन

प्रायः दो वर्ष का समय हुआ कि मेरे मन में यह विचार तरंगित हुआ कि "भक्त और भगवान" नाम से एक ऐसी पुस्तक प्रकाशित की जाय, जिससे प्राचीन कवियों के भव्य भावनामय भावों की सुन्दर समालोचनामय सरस-सूक्तियों का अनुपमेय संग्रह हो। मैंने अपना उक्त विचार श्री वियोगी हरि जी के पास लिख भेजा। उन्होंने सहर्ष लिखना भी स्वीकार कर लिया। मैंने पत्रं पुष्पं उन्हें भेज भी दिया; किन्तु यह जीवन का सर्व प्रथम अनुभव था, जब कि बड़े आदमी के साथ मैंने ऐसा सम्बन्ध किया! कुछ दिनों बाद "देर आयद दुरुस्त आयद" का सदुपदेश मिलने लगा। इस उपदेश ने एक वर्ष का समय नष्ट कर दिया। पुस्तक का विज्ञापन किया जा चुका था, कई सौ आर्डर भी आ चुके थे, अन्त में जब मैंने उनसे प्रार्थना की, कि आप अन्तिम उत्तर मुझे दीजिये कि कब तक पुस्तक देंगे, तो उन्होंने स्पष्ट नाहीं कर दी। मैं तो बौखला उठा। अन्त में यह कहना अत्युक्ति न होगी कि व्रज-भाषा-साहित्य-महार्णव श्रीयुत पं० जवाहरलाल जी चतुर्वेदी ने मुझे बड़ा सहारा दिया। किन्तु वे भी कम नहीं हैं। हैं तो मस्त व्रजवासी ही! बड़े अनुनय-विनय के पश्चात्, लम्बी लिखा-पढ़ी के उपरान्त किसी प्रकार चार महीने बाद कार्ड मिला पुस्तक तैयार हो गई है, अमुक तिथि को आऊँगा। किसी प्रकार उनके दर्शन हुए। गर्मी सर पर थी, छपाई के सौन्दर्य का ध्यान था; किसी प्रकार जल्दी से जल्दी पुस्तक छाप डाली गई। संभव है, शीघ्रता के कारण प्रूफ-संशोधन में कुछ त्रुटियाँ रह गई हों, अतः सहृदय पाठक और विद्वान् इसके लिए क्षमा करेंगे।

रचयिता—श्री समर्थ स्वामी रामदासजी

अनुवादक—बाबू रामचन्द्र वर्मा

जिस तरह उत्तर भारत में रामायणका प्रचार राजासे लेकर रंक की झोपड़ी तक है, उसी तरह इस पुस्तकका प्रचार दक्षिण भारतमें है। इस ग्रन्थ-रत्नमें आप धार्मिक, सामाजिक, पौराणिक तथा राजनीतिक इत्यादि जिस विषयका उपदेश चाहेंगे, वही पूर्ण रूपसे मिलेगा। ये उपदेश वही हैं, जो स्वामीजी शिवाजी महाराजको दिया करते थे। इन्हीं उपदेशोंका यह फल है कि आज महाराज शिवाजीकी गणना संसारके महान् पुरुषोंमें की जाती है। इन उपदेशोंका ढंग आजकलकी तरह नहीं, किन्तु एक विलक्षण ही ढंग है, जो हृदय पर तीरकी तरह अपना काम करते हैं।

पुस्तकके कितने ही संस्करण हाथाहाथ बिक गये हैं। यह ग्रन्थ बालकोंके वास्ते शिक्षाका भंडार, नवजवानोंके वास्ते जीवन-पथ-प्रदर्शक तथा बुड्ढोंके वास्ते स्वर्गकी कुञ्जी है। पृष्ठ-संख्या ५००, मोटा चिकना कागज, सुंदर छपाई तथा पक्की जिल्द। मूल्य २)

मिलने का पता—

हिन्दी-साहित्य-कुटीर

बनारस सिटी

कौंन दुतिय दयाल जन-हित, तजै जो निज बानि ;
कृष्ण पै "रघुराज" मति गति, बार-बार बिकानि ।

धन्य प्रभो ! धन्य, अहा...भक्त-प्रण-पालन की कितनी सुन्दर तस्वीर है—कैसा चित्त चुराने वाला चारु चित्र है वाह ! कहिये-कहिये नाथ ! तारीफ किसकी की जाय ! आपकी अथवा आपके इस हठीले भक्त की ! दादा ! जरा मुड़कर अपने इस अभिनव स्वरूप की तस्वीर एक बार फिर से देख तो लो ? वाह कितनी सुन्दर है—कितनी चित्ताकर्षक है । दादा ! सच कहता हूँ, एकदम सच ! अपने उस नयनाभिराम छवि की जरा-सी झलक भी यदि आप निरख पावें तो प्रभो ! सच कहता हूँ कि अपने दिल को फिर अपने पास न पायें और बार-बार देखने को ललचायें; यहाँ तक कि अपने को न्यौछावर कर दें । देखो-देखो दादा ! आपके यत्किञ्चित कृपापात्र इस अन्धे सूर ने उस स्वरूप का कैसा अलबेला खाका खींचा है, जैसे कि—

वा पट-पीत की फहरानि,
कर धरि चक्र चरन की धावनि, नहिं बिसरति वह बानि ।
रथ तैं उतरि अवनि आतुर ह्वै, कच रज की लपटानि ;
मानौं सिंघ सैल तें निकस्यौ, महा मत्त गज जानि ।
जिनि गुपाल मेरौ प्रन राख्यौ, मैंटि बेद की कानि ;
सोई "सूर" सहाइ हमारे, निकट भए हैं आनि ।

—और उक्त अभिनव स्वरूप का "रत्नाकरजी" ने भी, बड़ा सुन्दर खाका खींचा है, जैसे—

जाकी सत्यता मैं जग-सत्ता कौ समस्त सत्व,
ताके ताकि प्रन कौं अतत्व बिचलाए हैं ;

कहै "रतनाकर" दिबाकर दिवस ही मैं—
झंप्यौ कँपि झँमत नछत्र नभ छाए हैं।
गंगानंद-आनन पै आई मुसकानि मंद,
ताहि जोहि बृन्दारक बृन्द सकुचाए हैं;
पारथ की कानि, ठानि भीपम महा रथ की,
राखि जब बिरथ रथांग गहि धाए हैं।

कुछ ऐसा ही भाव "हरिदयाल" ने भी बड़ा सुन्दर कहा है—

मेरे मन बसी लाल की आँन;
निरखी तकन त्रिभंग चलन की, ऐंडी-बैंड़ी बाँन।
मोर मुकुट, अलबेलौ फैंटा, पीताम्बर फहराँन;
"हरिदयाल" पुरुषोत्तम प्रभु की, मृदु मीठी मुसिकाँन।

देखा सरकार! देखा न, "सूर" के खयाली पर, अनुभव-गम्य खाके को देखा! कितना सुन्दर खींचा है। कहिये, है न...
मनोरम—कुछ कसर तो नहीं है।

देखि चितेर में ठाड़े हैं कान्हर, टेढ़े भए मुँह, नारि झुराएँ;
कैसे बजावत हैं मुरली, तिरछे तकि भौंह सों भौंह जुराएँ।
चोरी की टेव यहाँ लौं परी, यह राखिए बात कहाँ लौं दुराएँ;
मौंहन मूरति, सुन्दर सूरति, चित्रहु मैं चित लेत चुराएँ।

अथवा—

साँवरे-अंगन मैं नख तैं, सिख लौं सुखमा के समूह सने हैं;
याही बिसासिन बाँसुरी मैं, बस की वे के ब्यौंत न जात गने हैं।
ऐसे बड़े ठग हैं जिन गोप-बधू-उर घाइल कीन्हे घने हैं;
बाँके हैं जैसे कछू मुनि राखे हैं, चित्र मैं वेई चरित्र बने हैं।✽

—मनोज-मंजरी

✽ इस हृदय-तड़फाने वाली तस्वीर पर कुछ उर्दू के शेर याद आ गये हैं जैसे कि—

हाँ तो भगवन्! आपका सारा काफ़िया कुछ ऐसी ही विवशता पर विवशतया तंग हो जाता है—अनन्यता की आखिरी में सारी शोखी हवा हो जाती है। गीता में कहा भी तो था—

अनन्याश्चिन्तयन्तो माम् ये जनाः पर्युपासम्,
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।

अर्थात् अनन्य भाव से मेरा जो निरन्तर चिन्तन करते हैं—उपासना करते हैं, उन नित-योग-युक्त-पुरुषों के योग और क्षेम को मैं ही धारण करता हूँ। उनके साधन और साध्य, दोनों की मैं ही रक्षा करता हूँ—उनका सम्पूर्ण उत्तरदायित्व, मैं अपने ही ऊपर लेता हूँ; लेकिन हो अनन्य भाव से। यथा—

जिनि जान्यौं बेद, ते तौ बादि कैं बिदित होहु,
जिनि जान्यौं लोक, तेऊ लोकन पै लरि मरौ;
जिनि जान्यौं तप, तीनौं तापन तैं तपि-तपि,
पंचागिनि साधि तैं समाधिन कौं धरि मरौ।
जिनि जान्यौं जोग, तेऊ जोगी जुग-जुग जियौ,
जिनि जानी जोति, तेऊ जोति लै जरि मरौ;
हौं तौ "देव" नंद के कुँमर! तेरी चेरी भई—
मेरो उपहास कोऊ कोटन किनि करि मरौ।

देख ले नक्शा अगर इस आलिमे-तसवीर का,
तू तो क्या जाहिद, दिल आये उस पै तार पीर का।

तेरी तसवीर में यह बात तुझ से भी निराली है,
कि जितना चाहो चिमटालो, न झिड़की है, न गाली है।

बात करती नहीं, ले लेती है चुटकी दिल में,
यह तो है आपकी तसवीर में इक बात नई।

—उर्दू-कविता-कलाप

प्यारे ! आपके "रूप-रस-मधुकरी"※ की भिखारिनी उन गोप-बालिकाओं ने पण्डितप्रवर "उद्धव" के व्रज आने पर कुछ ऐसी ही बात कितने प्रेम-विह्वल होकर कही थी कि—

ऊधौ मन माने की बात ;
दाख, छुहारे छाँडि अमृत-फल, विष-कीरा विष-खात ।
ज्यौं चकोर कौं दै कपूर कोउ, तजि अँगार न अघात ;
मधुप करत घर कोरि काठ मैं, बँधत कमल के पात ।
ज्यौं पतंग हित जानि आपनौं, दीपक सौं लपटात ;
"सूरदास" जाकौ मन जासौं, सोई ताहि सुहात ।

—सूरसागर

समझे साहब ! जिसका मन जिससे लग जाता है उसके सिवा उसे और कुछ सुहाता है ? जिसका जिस पर अनन्यतम भाव भूषित हो गया फिर दूसरे को उसके पास "ठौर" कहाँ ?

अति अगाधु अति औथरौ नदी, कूप, सर बाइ ;

※ माननीय स्वर्गीय श्रीनवनीतजी ने इस उक्ति पर क्या ही सुन्दर रचना रची है देखिये न—

प्रेम-प्रन-प्राग बैठि त्रिपथ त्रिवैनी न्हाइ,
पाइ पद पूरन प्रवीनता हिऐं धरी ;
"नवनीत" साधे सब साधन सनेह-जोग,
जुगत जमाइ कान्ह प्रान धारना करी ।
आयौ वन्हि विकल बियोग का तपन ताप,
नाम जपि तेरौ ता तैं विपत सबै टरी ;
रसिक-भिखारी तेरे द्वार पै ठड़ौ है एकु —
रूप-रास-माधुरी की माँगत मधूकरी ।

सो ताकों सागर जहाँ, जाकी प्यास बुझाइ । *
—बिहारी

नदी, कूप, सर, वापी—कुछ भी हो और वह चाहे अगाध हो अथवा औथरा (छिछिला) पर प्यास उसकी वहीं बुझेगी जहाँ कि उसका मन रम रहा हो। भला, अन्यत्र प्यास उसकी बुझ सकती है ? कदापि नहीं ! उसके लिये तो वही "सागर" है, फिर चाहे वह (जल) छिछिला हो या अगाध !

हुआ लैला प मजनू ; कोहकन शीरीं प सौदाई ,
मुहब्बत दिलका इक सौदा है, जिसकी जिस से बन आई ।

—आजाद

प्रभो ! अनन्यता की बानगी एक और देखो, आपके भेजे हुए उस "उन्मादी-उद्धव" ने जब उन प्रेमोन्मादिनी, अनन्य उपासिनी अंगनाओं के सन्मुख, संयोग और वियोग से भी ऊपर जोग का आसन ‡ अंकित करते हुए "बेढंगा-राग" अलापा तब

* उक्त दोहे पर बिहारी-बिहार के कर्त्ता पं० अम्बिकादत्तजी की पुनीत प्रतिभा देखिये—

"जाकी प्यास बुझाई" जहाँ सोई निधि सागर ,
नीऐ जासु जल पाय, मतंग सोई गुन आगर ।
झरना हो को नीर भयौ ज्यौं पुर कौ संपति ,
"सुकवि" जलधि बिनु काम तरंगित अति अगाध अति ।

‡ बिधि कौ सिर पंचम-खंड भयौ, मुनि-मौर नचे कपि के मुख लेते ,
भामिनी सौं महादेव भिरे, सुरराज कौं चिन्ह भए तन केते ।
उद्धव ! रावरे नैकु सखा, उन देखे हैं ठोक गवाँरन देते ,
एक ही भोग के आसन पै, झकमारत जोग के आसन जेते ।

— गोपी-प्रेम-पीयूष-प्रवाह

उन विरह-विलुलित वर बालाओं ने—आसन, यम नियम, प्रत्याहार, ध्यान और धारणा को, अनन्यता के सुन्दर आवरण से अलंकृत कर उत्तर-रूप में जो कुछ कहा, वह सुनने लायक है और मनन करने लायक है। अस्तु दिल थामकर सुनिये तो ?

असी-चार-लच्छ-काम केलि के प्रयोगनु तैं,
हयाँ तौ परितच्छ प्रेम-पूरन प्रबल है;
"नबनीत" प्यारे उर दृढ़ता दराज ऐसी,
गुरु-जन त्रास हू तैं होत ना बिचल है।
सिद्धि रूप साधन सुजान स्याम सुन्दर मैं,
लगन लगी है सो हिलाएँ न...हल है;
जोग मैं अधार ही को आसन बिदित यहाँ—
निराधार "आसन" सनेह कौ अचल है।

यम नियम—

इड़ा पिंगला औ सुसुम्ना मैं सुगंध सचि,
साँवरौ-सुखद-बीज-मंत्र लइ तामैं हैं;
क्रम-कुल-काँनि तैं बितिक्रम प्रबल प्रेम,
मौन करि प्रेम ही के साधन-सुधा मैं हैं।
...ौन करि धामैं वौ अनहद अनंद रूप,
भेद खट-चक्र कौ अभेद-रस थामैं हैं;
"नवनीत" साधैं बिपरीति खेचरी की रीति-
प्रीति-प्रानायाम तैं परम पद पामैं हैं।

प्रत्याहार—

नैंनन सौं रूप औरु काँनन मधुर बैंन,
चंद-मुख सुरति सुधा ही मैं भरे हैं;
"नबनीत" प्यारे-कर-कंजन कौं कंठ मेलि,
आलिंगन आदि परिरंभन धरे रहें।

पंच-पंच इन्द्रिन के इन्द्रिन सौं जोग साधि ,
ब्यापक बियोग ही की ब्याधि तें ढरे रहैं ,
आठौं जाम सुरत सँजोग ही सुखद साधि—
या बिधि सौं "प्रेम-प्रत्याहार" कौं करे रहैं ।

ध्यान—

प्रथम मिलन सोई पावन पदस्थ होइ ,
स्वस्थ रूप दूसरौ तनस्थ दृढ़ लाइ कें ;
त्रिकुटी में देखिए त्रिभंगी कौ स्वयं प्रकास ,
जोति में अखेद स्वेद-भेद दरसाइ कें ।
"नवनीत" दसौं दसा पूरन परम प्रेम ,
मूयातीत तुर्जा कौ अनंत सुख पाइ कें ;
नैनन बस्यौ है जैसौ ललित-त्रिभंग-अंग-
बैठौ ब्रज बाम सोई "ध्यान" चित लाइ कें ।

धारना—

अचल भयौ है चित चंचलता त्यागि ऊधौ !
सूधौ सुद्ध-भाव हिएँ स्याम कौं भरत हैं ;
"नवनीत" द्रावनी तें द्रवित सरूप-सुधा ,
नेह करि गेह देह बंधन हरत हैं ।
दहनी दहाएँ अपबाद के अखिल-पुंज ,
भ्रामनी तें कुंज-केलि काम बरसत हैं ;
सोखनी तैं सोखन कै बासना समैंट तत्व ,
आँनद अनंद ही की "धारना" धरत हैं ॥

समाधि—

हरख, सोक दोहुन की अंत्यज अवस्था एकु ,
सत्व-संचारी मैं सदाँ ही तन पाग्यौ है ;

"नवनीत" मान-अपमान कों पछेल बैठीं,
निंदा औ प्रसंसा सों न नैंकु चित भाग्यौ है।
ऊँच-नींच बातन कौ कियौ ना बिचार कछू,
धूप, छाँह, मेह, गेह, काम-देह दाग्यौ है;
बरनास्रम-धरम; करम बासना बिहाइ ऊधौ!
रूधौ सुद्ध स्याम की "समाधि" मन लाग्यौ है।
—गोपी-प्रेम-पीयूष-प्रवाह

कहिये सरकार! है न अनुपम अनन्यता, तब ही तो इनको यह "ख़िताब"—पुरस्कार दिया गया था कि—

"गोपी प्रेम की धुजा",
जिनतु गुपाल किए बस अपने, उरधर स्याम-भुजा।
सुक मुनि व्यास प्रंससा कीनों, उद्धव संत सराहीं;
भूरि-भाग गोकुल की बनिता, अति पुनीत जग माहीं।
कहा भयौ बिप्र-कुल जनम्यौ, सेवा सुमरन नाहीं;
स्वपच पुनीत "दास परमानँद" जो हरि सनमुख जाहीं।

ओह कितनी ऊँची अनन्यता है? कितना सुन्दर तबीयत तड़पा देने वाला तदात्म भाव है? इस प्रेम-मय अनन्यता का कुछ ठिकाना है वाह? जिस भावमयी-भावना द्वारा चराचर प्रियतम स्वरूप ही दिखाई दे, दूसरे के प्रति कुत्सित-कल्पना, स्वप्न में भी न उठे; उस "अनन्यता" को धन्य है—धन्य है।

कानन दूसरौ नाम सुनैं नहिं, एकुही रंग रँग्यौ यह डोरौ;
धोखैंहु दूसरौ नाम कहै, रसना मुख बाँधि हलाहल बोरौ।
"ठाकुर" चित्त की वृत्ति यही, हम कैसैंहुँ टेक तजैं नहिं भोरौ;
बावरी! वे अँखियाँ जरि जाँइ, जो साँवरौ छाँड़ि निहारितीं गोरौ।

जिनके कोमल-कलेजे में आपके अतिरिक्त और को ठौर

नहीं, जिनने आपके साँवले-सलोने स्वरूप का काजल * अपने कमलाक्षों में लगा लिया है, जो कि आपके इस काले-कलूटे रंग के अतिरिक्त गोराई की तरफ आँख भी नहीं उठातीं, प्यारे! उनकी अनन्यता का कुछ ठिकाना है।

तुझे देखें तो फिर औरों को किन आँखों से हम देखें;
ये आँखें फूट जायें गर्चे इन आँखों से हम देखें।

—कोई शायर

जिन पुनीत-पुतलियों में आपकी अनोखी-छबि (जरासी ही सही) छा गयी, अथवा खिंच गयी—अंकित हो गयी, उस में फिर अन्य को आसरा कहाँ? कहीं निजत्व में परत्व की प्रतिभा परखायी जाती है? नहीं, नहीं अपितु—

प्रीतम-छवि नैननि बसी, पर-छबि कहाँ समाइ,
भरी सराइ "रहीम" लखि, आप पथिक फिरि जाइ। †

भैया! सच बात तो यह है कि—जिन रमणीय आँखों में

* "देव" मसोसि बसायौ सनेह सों, भाल मृगम्मद बिन्दु कै भाख्यौ,
कंचुकी में चुपरौ करि चोवा, लगाइ लयौ उर सों अभिलाख्यौ।
लै मखतूल गुहे गहने, रस-मूरतवंत सिंगार कै चाख्यो,
साँवरे-लाल कौ साँवरौ रूप, मैं नैननि कौ कजरा करि राख्यौ।

† रहीम के इस अनुपम रत्न को स्वर्गीय कवि "नवनीत" जी ने अपनी कुण्डलिया रूपी कुन्दन में यों जड़ा है। यथा—

"आपु पथिक फिरि जाइ", जहाँ पै ठौर न होई,
त्योंही चखन-चकोर, चंद तजि तकै न कोई।
पिय "नवनीत" अनूप रूप की रासि रही फबि,
इन नैन में बसी लसी वह पीतम की छबि।

आप रम जाओ—जरा भी समा जाओ, उनमें अन्य आही नहीं सकता, समाही नहीं सकता—

अंजन दैंहु तौ किरकिरौ, सुरमहुँ दयौ न जाइ ;
जिन आँखिन सौं हरि लख्यौ, "रहिमन" बलि-बलि जाइ ।

अथवा—

"कबिरा" काजर-रेख हू, अब तौ दई न जाय :
नैंनन पीतम रमि रह्यौ, दूजा कहाँ समाय ।

बकौल "कबीरजी" के हमारे भैया "वियोगी-हरिजी" फरमाते हैं कि—काजल वा सुरमा तो साकार वस्तु है—चीज है, अरे अनुराग से आलुलायित आँखों में निराकार नींद की भी गुंजाइश नहीं, उसको भी मुतलक जगह नहीं—

आठ पहर चौंसठ घरी, मेरे और न कोय ;
नैंना माँही तू बसै, नींदहि ठौर न होय ।

नाथ ! आपके अनन्य भक्त गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी अपने एक पद में अपनी चंचल-इन्द्रियों को अनन्यता की दृढ़-डोरी में बाँधते हुए कहा था—

जानकी-जीवन की बलि जैहौं :
चित कहै राम-सीय-पद परिहरि, अब न कहूँ चलि जैहौं ।
उपजी उर प्रतीति सपनेहुँ सुख, प्रभु-पद बिमुख न पैहौं ;
मन समेत या तन के बासिन्ह, इहै सिखावन देहौं ।
स्त्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं, रसना और न गैहौं ;
रुकिहौं नैंन बिलोकत औरहिं, सीस ईस ही नैहौं ।
नातौ-नेह नाथ सौं करि सब, नातौ-नेह बहैहौं ;
यह घर-भार ताहिं "तुलसी" जग, जाकौ दास कहैहौं ।

—विनय-पत्रिका

अर्थात्—मैं (केवल) श्रीजानकी के जीवन रघुनाथजी पर ही बलि जाऊँगा—न्यौछावर होऊँगा। श्रीसीतारामजी के पुनीत-पादारविन्द का परित्याग कर और किधर भटकता फिरूँगा ? कहाँ इधर-उधर भ्रम-वश दौड़ता फिरूँगा ? नहीं-नहीं अन्यत्र का आसरा त्याग वहीं निश्चल हो जाऊँगा क्योंकि—हृदय में कुछ ऐसी अनुपम धारणा बँध गयी है, धारणा से हृदय कुछ अनोखा-धूसरित हो गया है कि उन (श्रीराम) के श्रीचरणों से चंचल-चित्त हटाकर, उनसे विमुख होकर, जागते की तो क्या बात, स्वप्न में भी कहीं अन्यत्र सुख न पा सकूँगा। अब न तो इन कानों से किसी और की कहानी सुनूँगा ! चर्चा सुनूँगा ! और न इस रस-रंजित रसना से किसी और का गुण-गान ही करूँगा। दूसरे की तरफ निहारते हुए इन नेत्र द्वय को मोड़ लूँगा, किसी को बरबस देखते हुये उधर से फेर लूँगा, नहीं देखने दूँगा ? नहीं देखने दूँगा ? देखूँगा तो केवल श्रीराम की ही ओर; उस तरफ ही चकोर की तरह टकटकी लगाये निहारता रहूँगा, उन्हीं को देखता रहूँगा। मस्तक भी उन्हीं को झुकाऊँगा। उनके साथ नेह-नाता जोड़कर अन्य नातों (सम्बन्धों) को बहा दूँगा—तोड़ दूँगा। अब तो इन सारी बातों का भारी भार उन पर ही है, जिनका कि मैं अनन्यदास, भक्त, सेवक हो रहा हूँ—बन रहा हूँ अथवा कहा रहा हूँ। क्योंकि—

नाहिंन रही मन मैं ठौर ;
नंद-नंदन अछत कैसैं, आनिऐं उर और।
चलत, चितवत, दिवस जागत, सपन सोवत राति ;
हिए तैं वह स्याम-मूरति, छिन न इत-उत जाति।

कहत कथा अनेक ऊधौ ! लोग लोभ दिखाइ ;
कहा करौं मन प्रेंम-पूरन, घट न सिन्धु समाइ ।
स्याम-गात, सरोज-आनन, ललित-गति मृदु-हास ;
"सूर" इनके दरस कौं बलि, मरत लोचन प्यास ।

अथवा—

सब जग तजे प्रेंम के नाँते ;
चातक स्वाँति-बूँद नहिं छाँड़ति, प्रगट पुकारत ताते ।
समुझन मीन नीर की बातें, तजत प्रान हठि हारत ;
जानि कुरंग प्रेंम नहिं त्यागत, जदपि व्याध सर मारत ।
निमिष चकोर, नैंन नहिं लावत, ससि जोअत जुग बीते ;
ज्योति पतंग देखि बपु जारत, भए न प्रेंम-घट रीते ।
कहि अलि ! क्यौं बिसरत वे बातें, सँग जो करी ब्रजराजै ;
कैसें "सूर" स्याम हम छाँड़ें, एकु देह के काजै ।

—सूरसागर

हे अनघ ! आपकी इस अवर्णनीय-अनुपम-अनन्यता के उन्माद में बहक कर—अनन्यता रूप उज्वल आह्लाद से अभिषिक्त आन्दोलन की बहिया में बह कर कहाँ का कहाँ चला आया ! अनन्यता के भाव से विभोर हो किधर बहक गया ! भीष्म-पितामह के निर्निमेष नेत्र द्वय के सन्मुख खड़ी उस भव्य-भाव-मयी छबि को छोड़ कर दूसरी ही छबि पर—और ही छबीली-छटा पर टूट पड़ा—

दिल को खुद छेड़े जो वह, तिर्छी-नजर तो क्या करूँ ,
चैन से रहने न दे, दर्दे-ज़िगर तो क्या करूँ ।

—नज़ीम

अस्तु, नाथ ! भीष्म के सामने समुपस्थित वाली जैसी "रीझ-

मयी खीझ" का, कुछ ऐसी ही खूबियों से खचित तस्वीर का—शोखी भरे सरापे का आनन्द, एक दफे और आँखों को उलझा चुका है; बरबस खींचकर अपनी ओर अटका चुका है। लेकिन "तुम्हें याद हो कि न याद हो"*। जैसे कि—

* "तुम्हे याद हो कि न याद हो" इस काफ़िये पर भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी की एक कृति बड़ी अनुपम है, जैसे कि—

वह नाथ ! अपनी दयालुता, तुम्हें याद हो कि न याद हो,
वह जो कौल भक्तों से था किया, तुम्हे याद हो कि न याद हो।
सुनी गज की जैसे ही आपदा, न विलम्ब छिन का सहा गया,
वहीं दौड़े उठके पियादे—पॉं, तुम्हे याद हो कि न याद हो।
व जो चाहा लोगों ने द्रौपदी की कि शर्म उसकी सभा मे लें,
व बढ़ाया वस्त्र को तुमने जो, तुम्हे याद हो कि न याद हो।
व अजामिल एक जो पापी था, लिया नाम मरते पै बेटे का,
व नरक से उसको बचा लिया, तुम्हे याद हो कि न याद हो।
व जो गीध था, गनिका व थी, व जो व्याध था, व मल्लाह था,
इन्हें तुमने ऊँचों की गति जो दी, तुम्हें याद हो कि न हो।
खाना भील के व जूठे फल, कहीं साग दास के घर पै चल;
यूँही लाख किस्से कहूँ मैं क्या, तुम्हें याद हो कि न याद हो।
जिन बानरों में न रूप था, न गुण ही था, न जात थी;
उन्हे भाइयों का-सा मानना, तुम्हे याद हो कि न याद हो।
व जो गोप गोपी थे ब्रज के सब, उन्हे इतना चाहा कि क्या कहूँ;
रहे उनके उलटे रिनी सदाँ, तुम्हें याद हो कि न याद हो।
कहो गोपियों से कहा था क्या, करो याद गीता की जरा;
यानी वादा भक्त-उद्धार का, तुम्हे याद हो कि न याद हो।
ये तुम्हारा ही है "हरिचंद" जो फसाद मे जग के बन्द है;
व है दास जन्मों का आपका, तुम्हे याद हो कि न याद हो।

मैया ! मोहि दाऊ बहुत खिझायौ ;
मोसौं कहत मोल कौ लियौ तू जसुमति कब जायौ ।
कहा कहौं या रिस के मारें, खेलन हौं नहि जातु ;
पुनि-पुनि कहत कौन माता तो, कौन तिहारौ तातु ।

क्योंकि—

गोरे नंद, जसोदा गोरी, तुम कत स्याम-सरीर ,
चुटकी दै-दै हँसत ग्वाल सब, सिखै देति बलबीर ।
तू मोही कौं मारन सीखी, दाऊहि कबहु न खीझी ;
मोहन कौ मुख-रिस-समेत लखि, जसुमति मन अति रीझी ।

अस्तु—

सुनहु स्याम बलभद्र चबाई, जनमत ही कौ धूत ;
"सूर" स्याम मोहि गोधन की सौं, हौं माता, तू पूत ।

—सूरसागर

भैया ! आपकी एक चञ्चल-छबि और भी दिल में दुपक रही है यानी छुप रही है—निराले नाज से अदा का उभाड़, उभाड़-उभाड़कर, हृदय को बरबस अपनी ओर आकर्षित कर रही है। देखिये न—

मैया ! मैं न चरैहौं गाइ ;

क्योंकि—

सगरे ग्वाल घिरावत मोसौं, (और) मेरे पाँइ पिराइ ।
जो न पत्याइ पूंछ बलदाउहि, अपनी सौंह दिवाइ ;
यह सुनि सुनि जसुमति ग्वालन कौं, गारी देत रिसाइ ।

जैसे कि—

मैं पठवति अपने लरिका कौं आवै मन बहराइ ;
"सूर" स्याम मेरौ अति बालक, मारत ताहि रिंगाइ ।

—सूरसागर

हाँ-हाँ मैया ! यह भी कोई बात है कि मन बहलाने को बालक भेजा जाय और फिर उसे गाय घिराने के मिस ही मिस रेंगाइ-रेंगाइ अर्थात् चला-चला—दौड़ा-दौड़ाकर कयामत बर्पा कर दी जाय। ग्वाल-बाल थोड़े भी नहीं सब-के-सब अपने "जनरेली-आर्डर" द्वारा नन्हे से बालक को पाँ-पिराने पर भी दौड़ाते हैं, वाह—अच्छा मज़ाक कर लिया ! खूब धींगा-धींगी रही ! लेकिन मैया ?

बनने, बिगड़ने रूठने, हँसने में लुत्फ़ है ;
जब तक कि छेड़-छाड़ न हो, कुछ मज़ा नहीं।

—असीम

अस्तु, सरकार ! पहिले यह तो बतलाइये कि—"दाऊ दादा" ने मज़ाक में—

"गोरे नंद, जसोदा गोरी, तुम कत स्याम-सरीर"

—कह दिया, तो कोन-सा गजब कर दिया, जो कि—झटपट डबडबाई-आँखों से अठखेलियाँ खेलते, मैया के सामने जाकर शिकायत का दफ्तर खोल दिया—आँसुओं की धारें बहाकर कयामत का नजारा दिखा दिया, लेकिन जनाब ! जब उन गँवारी-गोप बालाओं ने दान माँगते समय ऐसी ही मन-भावनी-बेजा-हरकतें कीं तब हुजूर के कान पर जूँ भी न रेंगी—जरा भी त्योरी न बदलते बना यथा—

गोरे श्रीनँदराइजू हो..., गोरी जसुमति माइ ;
तुम या ही तें साँवरे (लाला !) ऐसे लच्छिन पाइ।

—हरिरायजी

—कहिये-कहिये—हुजूर ! कुछ इसका जवाब दीजियेगा ?

या फिर माता के सामने जाकर शिकायत का शरूर समुपस्थित कीजियेगा। बतलाइये न, जब कि—माता-पिता (इधर-उधर यानी नंद-जशोदा और वसुदेव-देवकी) दोनों ही गोरे चिट्टे खूबसूरत, तब आप ही "काले-कलूटे" क्यों ? आपका ही साँवला-सलोना स्वरूप क्यों ? बतलाइये साहब ! बतलाइये न......, क्यों सरकार ! यदि बतलाने में—इसका सबब बयान करने में, यदि कोई कमनीय-कारण हो, कोई अन्दरूनी वाकया हो तो न बतलाइये, कहने में कुछ संकोच हो तो न कहिये, जाने दीजिये, पर ये आपके मुँह लगी ललित-ललनायें क्यों मानने लगीं। ये तो तालियाँ पीट-पीटकर इस काले-रंग पर एक और "फतवा" पढ़ने लगीं—एक नये ही शिगूफे का शोर मचाने लगीं कि—

जसोदा नें कारी अँधेरी मैं जायौ ;
जासौं कारौ ही कृष्ण कहायौ।

—कोई कवि

भगवन् ! सच बात तो यह है कि—आपके इस काले-रंग पर, चाहे कोई फबतियाँ फड़काये, अथवा इसे आपके साथ "उपहास" करने का—मखौल करने का, साधन बनाये, पर है ये अनोखा रंग—

'सूरदास" की कारी-काँमरि चढै न दूजौ रंग"

भैया ! यह आपके काले-रंग की ही कमनीय करामात है कि अनेक गोरे-चिट्टे, शुभ्रवर्णवाले साधु-संत आपकी कलोंछी में रंगने को अपना परम सौभाग्य समझते हैं; उसमें रँगने के लिये तड़प जाते हैं—बेचैन बने रहते हैं ; क्योंकि श्याम की श्यामता में सराबोर हुये बगैर कोई शुभ्र हो ही नहीं सकता, उजला

हो नहीं सकता। तुम्हारी ध्यान-धारणा के बगैर तबीयत की तमोगुणी-कलुषता—श्यामता, साफ हो ही नहीं सकती। सुना जाता है कि—जहर को जहर ही मारता है, दूर करता है; तो क्या इस कारण ही आप श्याम-शरीर हो गये! पर, काले रंग में डूबने से "सफेद" हो जाना है, बड़े आश्चर्य की बात है, निहायत विरोधी बात, पर—

या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोइ,
ज्यौं ज्यौं बूड़ै स्याम-रँग, त्यौं-त्यौं ऊजरु होइ। ❀

—बिहारी

ओह! कितना विरोधाभास है, कितनी विपुल-विलक्षणता है; काले रंग में डूबने से—रँगने से, काला होना चाहिये या सफेद! पर, यह सब आपके अनुराग-विज्ञान की ही करामात है कि ज्यों-ज्यों आपके—

"नीलोत्पल-दल-स्याम"

—रंग में रँगे, त्यों-त्यों अधिकाधिक उज्ज्वलता अख्तियार करता जाय, धन्य हैं प्रभो! धन्य! विज्ञानी इसे अपने रासायनिक-प्रयोग की प्रक्रिया द्वारा वर्ण-विपर्यय की विपरीतता को सन्देह की दृष्टि से भले ही देखें, परन्तु "प्रेम-विज्ञान" में इस गरूर की गुञ्जायश नहीं! क्योंकि—

❀ बिहारी के उक्त दोहे पर पं० अम्बिकादत्तजी की अनुपम उड़ान भी देखिये—

"त्यौं-त्यौं ऊजरु होई" स्याम-रँग ज्यौं-ज्यौं डूबे,
आनँद-रस सरसात, नाहि पुनि कछु हूँ ऊबै।
औरु रंग नहिं चढ़ै, स्याम लहि सो बड़ भागी,
"सुकवि" समझि को सकै, भयौ चित जो अनुरागी।

"प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्" !

अर्थात् "श्याम-सुन्दर" के श्याम रंग में अपने मलिन मन को डुबा देखिये, उज्ज्वल होता है या नहीं ?

प्यारे श्याम सुन्दर ! आपकी साँवली सलोनी अनुपम छटा, इन निठल्ले भक्तों के राग-रञ्जित आँखों में बरबस छा गयी है। वे जिधर भी देखें, श्याम-मय ही पाते हैं। यहाँ तक कि--

घर-घर घाटन मैं, बाटन मैं, कुंजन मैं,
कहे रूप गुंजौ अनुरूप कहा डोलौं मैं ;
"बैंनी कवि" गातन मैं बस्यौ गोदना के मिस—
रिस करि बातन मैं कहा-कहा छोलौं मैं।
मसकि मसूसन सौं मारौं मन कौलौं, कोऊ—
हितू ना हमारौ जासौं बिलग न बोलौं मैं ;
मूँदौं स्याम-पुतरी, उघारि देखौं साँवरौ मैं,
मेरौ अपराध आँख मूँदौं किन खोलौं मैं।

अथवा—

बैर बढ़े तैं बढ़ै अति ही, अब को कहिकैं कढ़ि कौंन सौं जूझै ;
जैसी भई हरि हेरत ही, सुतौ को हिय की, जिय की गति बूझै।
बाहर हू, घर हू मैं सखी ! अँखियाँनि वहै-छबि आनि अरूझै ;
साँवरौ-रंग रह्यौ उर मैं, सिगरौ जग साँवरौ ही साँवरौ सूझै।

—कोई कवि

साँवले रंग के जौहर बड़े जालिमाना हैं, यह रंग चढ़ने पर फिर क्या किसी के काम का रह सकता है। यह तो एक-दम तन-मन की सुधि भुला बावला बना देता है—बावला ! देखिये न--

गाइकैं तान, बजाइ कैं बाँसुरी, मोहि कैं मौहनी मो-सिर दीन्हीं ;
ऐंठि कैं पाग, उँमैंठि कैं पेचनि, टेढ़ी सी चाल चलै रस-भींनीं।

रीझि-रिझाइ कैं जात भए, "मकरंद" कहौ सु कहा गति लीन्हीं ;
जावरी ! कापर नाँवरी बूझति, साँवरी-सुरति बावरी कीन्ही ।

प्यारे श्यामसुन्दर ! ऐसा अनोखा रंग कहाँ से पाया ! कैसे मिला ! किसने दिया ! कुछ बतलाओ तो ! क्या न बतलाओगे ! बड़े मिजाजी हो—निहायत घमंडी हो, मुमकिन से जियादह मगरूर हो ! अच्छा साहब ! न बतलाइये, कुछ न कहिये, हम सब पता लगा लेंगे । इसके कमनीय-कारण को अँधेरे में छिपे रहने पर भी खोज-ढूँढ़ कर निकाल लेंगे, आप न बतलाइये । अरे लो हमीं आपके इस श्याम रंग पाने की—इस रंगामेजी की सारी कलई खोल देते हैं, जैसे—

कजरारी-अँखियाँनि मैं, बस्यौ रहत दिन-रात ;
पीतम-प्यारौ हे सखी ! या तैं साँवल-गात ।

—नागरीदास

सुना साहब ! कहिये कैसा पता लगा लिया, सच बात तो यह है कि—चोर अपने को कितना ही छिपाये, अंधकार में कितना ही अलंकृत रहे पर छिप नहीं सकता, दुपका नहीं रह सकता । वाह...सरकार ! कज्जल-कलित ललित-लोचनों में दिन-रात एक क्षण भी इधर-उधर नहीं छिपकर बसे रहे ! पर, बलिहारी नाथ ! आपकी इस चतुराई पर, खूब काले कलूटे होकर निकले । वाह... खूब साँवले सलोने बन बैठे ।

भैया ! वह देखो, आपकी परम भक्त बाई "मीरा" अपने नैनों में बसने की पुनीत प्रार्थना पुकार-पुकार कर, कर रही है, परन्तु उधर जाना नहीं ! क्योंकि अभी तो एक प्रेम-पुत्तलिका की ही आँखों में अलंकृत होने से यह अनोखा अहवाल हुआ है,

अगर फिर कहीं किसी की आँखों में बसने से इससे भी ज्यादह रंग चढ़ गया, और भी गहरा हो गया—आबनूस के कुन्दे की तरह और काले हो गये तो कन्हैया ! गज़ब हो जायगा गज़ब ! अस्तु जो कुछ वह कहती है उसे दूर से ही सिर्फ सुन लेना, जाने का, वहाँ बसने का, कस्द न करना। हाँ तो वह क्या कहती है—

बसौ मेरे नैंननि मैं नँदलाल,
मौंहनी-मूरति, साँवरी सूरति, नैंना बने बिसाल।
अधर-सुधा-रस मुरली राजत, उर बैजन्ती-माल,
छुद्र-घंटिका कटि-तटि सोहत, नूपुर-सबद-रसाल।
"मीराँ" के संतत सुखदाई, भक्त-बछल-गोपाल।

भैया ! और लो, "मीराबाई" के साथ-साथ आपका एक और भक्त भी किसी गोपिका के घर से माखन चुराकर छिपने के लिये भागने पर, किसी और जगह की तलाशी के पेस्तर, अपने कलुषित-मानस की कालिमायुक्त कोठरी में, अँधेरे मकान में, जहाँ कि कोई भी न देख सके (छिपने के लिये) किस प्रकार आल्हादित हो आह्वान कर रहा है, आपको बुलाता हुआ कह रहा है, कि—

क्षीरसारमपहृत्यशंङ्कया यदि पलायितुमच्छसि माधव !
मानसे मम नितान्ततामसे किन्न नंदनंदन ! गच्छसि।*

—कस्यचित्कवे

---

* उक्त संस्कृत की सरस-सूक्ति पर "पद्माकर" का प्रखर प्रताप भी परखिये, जैसे कि—

ए ब्रजचंद ! गोबिन्द-गुपाल ! सुनौ, न क्यौं केते कलाम किए मैं,
त्यौं "पदमाकर" आनँद के नद, हौ नँद-नंदन जानि लिए मैं।
माखन-चोरी के खोरनि है, चले भाजि कहू भै मानि जिए मै,
दूरि ही दौरि दुरौ जो चहौ, तौ दुरौ किन मेरे अँधेरे-हिए मै।

अर्थात् हे नंदनंदन ! मक्खन चुरा कर डर के मारे यदि कहीं छिपने के लिये आप भाग रहे हों—किसी अन्धेरे-स्थान में जहाँ कि कोई देख न ले छुपना चाहते हो, तो मेरे मोह और अज्ञान के अन्धकार से अलंकृत मन-मानस में आकर—पधार कर क्यों नहीं छिप जाते। इससे बेहतर जगह आपको छिपने के लिये अन्यत्र कहाँ मिलेगी ! अस्तु आइये न..................

क्योंकि यहाँ तो—

मी गुज़रद ईं दिलरा, वे दिलदार ;
इक-इक साअत हम चूँ, साल हजार।

—रहीम

लेकिन माखन-चोर ! न आईये—न आईये; क्योंकि आपका और आपके इस काले कलूटे रंग का अब विश्वास नहीं रहा, अरे इसे तो गरबीली-गोपियों के "फुल-बेन्च" से "पहिले ही सार्टी-फिकेट" मिल चुका है, जैसे कि—

सखीरी ! स्याम सबै इक सार ;
मींठे बचन सुहाए बोलत, अन्तर-जारन-हार।
भँवर, कुरंग, काम औ कोकिल, कपटिन की चटसार ;*

—सूरसागर

* सूरदासजी की उक्त उक्ति सम्पूर्ण इस प्रकार है—

कमल-नैन मधुपरी सिधारे, मिट गए मंगलचार।
सुनहुँ सखी री ! दोष न काहू, जो बिधि लिखौ लिलार ;
इहि करतून इनहिं की नाँई, पूरब बिबिध-विचार।
उँमगी-घटा, नाँखि आवैं पावस, प्रैम की प्रीति अपार ;
"सूरदास" सरिता, सर पोखन, चातक करत पुकार।

अथवा—

समझि मधुप, कोकिल की, यह रस-रीति ;
सुनहुँ स्याम की सजनी ! का परतीति ।

—रहीम

धन्य भगवन् ! आप तो आप और बगल चाप, अथवा—"आपन डुबता बाम्हना, संग जिजमान लै डुब्बे"। कपट करें आप, और कपटी होने की उपाधि मिले सब काले रंग वालों को; सम्पूर्ण सवर्णीय रंग वालों को ! कुटिलता की आपने, और लद गये बेचारे भ्रमर, कुरंग, कोकिल आदि काले रंग वाले सब, वाह... खूब रही ।

और करइ अपराध कोउ, और पाव फल-जोग ,
अति बिचित्र भंगवत-गति, को जग-जानइ-लोग ।

—तुलसीदास

अपराध को आलिंगन कोई और करे, लेकिन फल फलित हों दूसरों को, धन्य भगवन् ! आपको, और आपकी विचित्र गति को ! संसार में इसे जानने योग्य कोई है ?

भैया ! आपके इस काले कलूटे रंग पर "रघुनाथ" कवि भी एक दूर की कौड़ी लाये हैं—साँवले रूप-रंग पर उनको भी दूर की सूझ सूझी है, जैसे—

काछौ कछैं पट-पीत कौ सुन्दर, सीस धरैं पगिया रँग-राती ,
हार गरे बिच गुंजन कौ, अलकैं छिति-छोरन लौं छहराती ।
खेलत ग्वालन सौं "रघुनाथ" औ डोलै गलीन मैं अति उतपाती ,
जो रँग साँवरौ हो तो न ईठि, तौ काहू की डीठि कहूँ लगि जाती ।

चलो यह भी अच्छा ही हुआ, "श्यामसुन्दर" ऊधमी और उत्पाती तो थे ही अस्तु—नित्य "नज़र" लगने का उत्पात और

खड़ा हो जाता तथा मैया को राई-नोन उतारते-उतारते हैरान हो जाना पड़ता अतः—

"न रहेगा बाँस और न बाजेगी बाँसुरी"

उफ़ ! नाथ ! आपकी एक अपूर्व झाँकी तो भूल ही गया, आपकी इस रंगामेज़ी की रँग-रेली में, वह जी तड़पा देनेवाली तस्वीर तो तबीयत से उतरी ही जाती थी। वह रीझमयी खीझ भी भूलने लायक नहीं है नाथ ! वह तो हृदय-पटल पर अङ्कित करने योग्य है—वह तो भाव की तूलिका से प्रेम-रंग द्वारा नित्य नवीनता से युक्त होकर चित्रित करने योग्य है ! अस्तु—

"गुर्वर्थे त्यक्तराज्यो......"

—के कमनीय कार्य के अनन्तर जब "सरयू-तीर" पर खड़े-खड़े, पार उतरने के लिए लालायित हो "नाव" माँगी जा रही थी और उस केवट के नाव न लाने पर तथा "पुर-मजाक" उत्तर देने पर, जो हृदय-हारी "रीझ-भरी-खीझ" का मजा आया था; वह क्या भुलाये भूल सकता है ! देखिये न गोस्वामी तुलसीदासजी उसका कैसा सुन्दर शाब्दिक-चित्र चित्रित करते हुए कहते हैं—

माँगी नाव न केवट आना, कहइ तुम्हार मरम मैं जाना।
चरन-कमल-रज कहँ सब कहई, मानुष-करन मूरि कछु अहई।
छुअत सिला भई नारि सुहाई, पाहन तें न काठ-कठिनाई।
तरनिउँ मुनि-घरनी होइ जाई, बाट परेइ मोरि नाव उड़ाई।
एहि प्रतिपालउँ सब परिवारू, नहिं जानउँ कछु अउरु कबारू।
जौं प्रभु पारु अवसि गा चहहू, मोहि पद-पदम-पखारन कहहू।

पद-कमल धोइ, चढ़ाइ नाव, न नाथ ! उतराई चहउँ,
मोहि राम राउरि आनि, दसरथ-सपथ सब साँची कहउँ।

बरु तीर मारहु लषन, पै जब लगि न पाँय-पखारिहउँ,
तब लगि न "तुलसीदास" नाथ! कृपालु पारु-उतारिहउँ।

सुनि केवट के बैंन, प्रेंम-लपेटे-अटपटे;
बिहँसे करुना-ऐंन, चितइ जानकी-लषन तन।

कृपा-सिन्धु बोले मुसुकाई, सोइ करु जेहि तब नाव न जाई।
वेगि आनु जल पाँय-पखारू, होत बिलम्ब उतारहु पारू।

अर्थात्—नाव माँगने पर, नाविक नाव न लाया और "टका सा जवाब" देते हुए कहने लगा कि जनाब! मैं आपका सारा-मरम, सम्पूर्ण रहस्य, जानता हूँ; आपके अन्दुरूनी-अन्दाज को—भारी भेद को मैं समझता हूँ, और कोई क्या समझेगा। अस्तु नाव-वाव लाने के लिये क्षमा कीजिये, अथवा नाव पर चढ़कर पार पहुँचने की आशा-प्रत्याशा का परित्याग कीजिये, क्योंकि इन चरण-कमल की कमनीय रज को इसके कोमल-कणिका को सब कोई मनोहर मनुष्य बनाने की कुछ अजीब चीज समझते हैं—सजीवन-मूरि मानते हैं, कोई अपूर्व औषधि होने का अन्दाज आँकते हैं, कि जिसके छूने से, स्पर्श करने से पत्थर भी सुन्दर-स्त्री हो जाते हैं, फिर यह काठ की नाव उस (शिला) से कठिन नहीं है, कुछ कड़ी नहीं है, अपितु कोमल है ? अतः मेरी यह नाव यदि मुनि-पत्नी की तरह कहीं स्त्री हो गयी तो कुटुम्ब के कालयापन के लाले पड़ जायँगे! जीविका का सहारा ही काफूर हो जायगा ? आजी-विका का अन्त ही आ जायगा ? मैं तो इस के ही सहज-सहारे अपने सारे परिवार का पालन करता हूँ, कुछ और उद्यम आता-जाता नहीं इसलिये प्रभो! यदि आप, अवश्य ही पार पहुँचना चाहते हैं अथवा नाव पर चढ़ने को लालायित हैं तो—

"मोहि पद-पदम पखारन कहहू"

यानी अपने पाद-पद्म पखारने की परवानगी प्रदान कीजिये, इन धूल-धूसिरित श्री चरणों के धोने की आज्ञा से अलंकृत कीजिये। नाथ ! मैं कुछ पार पहुँचाने की उतराई (मजदूरी) नहीं माँगता ? और न इन—

"कोमल-चरन-सरोज"

—के धोने की ही धृष्टता ध्यान में लाता ! पर लाचार हूँ सरकार ! क्योंकि लोग बागों ने आपके पाद-पद्म की पावन-धूलि को मनुष्य निर्माण करने का एक "नुस्खा" सा निनादित कर रखा है—औषधि रूप से आविर्भाव कर, प्रसिद्ध कर दिया है, इस लिये—

क्षालयामि तव पाद-पङ्कजं,
नाथ! दारुदृषदो किमन्तरम्;
मानुषी करणरेणुरस्तिते—
पादयोरिति कथा प्रथीयसी।

—अध्यात्म रामायण

दारु—काठ और पाषाण में कुछ अन्तर भी तो नहीं है अपितु यह (काष्ठ) पाषाण से कोमल ही है, इसे मनुष्य बनते क्या देर लगेगी ! इस लिये श्रीमान् ! आपके भाई लक्ष्मण चाहे तीर मारे या तलवार, पर मैं आपकी और बड़े महाराज दशरथजी की कसम खाकर कहता हूँ कि बिना पाद-प्रक्षालन किये नाव पर न चढ़ाऊँगा, न चढ़ाऊँगा।

बफ़ादार बन लो तुम आप अपने मुँह से,
मुझे याद हैं सब जफ़ायें तुम्हारी। —दाग़

भगवन् ! आपकी इस "खीझ-भरी-रीझ" का चारु चित्र "तुलसीदास" ने एक जगह और खींचा है, जैसे—

रावरे दोष न पाँइन कौ, पग-धूरि कौ भूरि प्रभाउ महा है,
पाँइन तैं बन-बाहन काठ कौ कौमल है, जल खाइ रहा है।
पावन पाँइ पखारि कैं नाव, चढाइहौं आयुस होत कहा है,
"तुलसी" सुनि केवट के बर-बैन, हँसे प्रभु जानकी ओर हहा है।

पात-भरी सहरी, सकल सुत बारे-बारे,
केवट की जाति कछू बेद ना पढ़ाइ हौं ;
सब परिबार मेरौ याही लागि राजा जू !
दीन बित्त-हीन कैसें दूसरी गढ़ाइ हौं।
गौतम की घरनी ज्यौं तरनी तरैगी मेरी,
प्रभु सौं निषाद ह्वै कैं बाद न बढ़ाइ हौं ;
"तुलसी" के ईस राम रावरे सौं साँची कहौं,
बिना पग धोएँ नाथ ! नाव ना चढ़ाइ हौं।

तिनकौ पुनीत बारि धारे सिर पै पुरारि,
त्रिपथ गामिनी कौ जसु बेद कहैं गाइ कै ;
जिनकौं जोगिन्द्र, मुनि-वृन्द, देव देह भरि,
करत बिराग, जप, जोग मन लाइ कैं।
"तुलसीदास" जिनकी धूरि परसि अहिल्या तरी,
गौतम सिधारे गृह गौनौं सौ लिवाइ कैं ;
तेई पाँय पाइ कैं चढाऊँ नाव धोए बिनु,
ख्वैहौं न पठावनी कै ह्वै हौं न हँसाइ कैं।

श्रीमान् ! आपके इस चारु चित्र निरखने को "सूरदास" जी भी मचल पड़े। यह भी न माने और "केवट" की इस मन-भावनी बेजा हरकत पर बोल ही पड़े कि—

भैया केवट ! लै उतराई ;
रघुपति महाराज इत ठाड़े, तैं कित नाव दुराई ।
अबहिं सिला तैं भई देव-गति, जब पग-रैंनु छुवाई ;
हौं कुटंब कैसैं प्रतिपारौं, जदि बैसी ह्वै जाई ।
जाके चरन-रैंनु की महिमा, सुनियतु अधिक बड़ाई ;
"सूरदास" प्रभु अगनित महिमा, बेद, पुरानन गाई ।

अथवा—

नौका, नाहीं हौं लै आउँ ;
प्रगट प्रताप चरन कौ देख्यौ, ताहि कहाँ लौं गाउँ ।
कृपा सिन्धु पै केवट आयौ, काँपत करत जु बात ;
चरन-परसि पाषान उड़त हैं, मति मेरी उड़ि जात ।
जो इहि बधू होइ काहू की, दार-सरूप धरैं ;
छुटै देह जाइ सरिता तजि, पगसौं परस करैं ।
मेरी सकल जीबिका या मैं, रघुपति ! मुक्ति न कीजै ;
"सूरदास" प्रभु चढ़िऐ पाछैं, रैंनु-पखारन दीजै ।

श्रीसूर के निम्न पद पर "प्रेमरंगजी" का भी एक पद बड़ा सुन्दर है, यथा—

कहै केवट, प्रभु सौं मत छूबौ पाँइ सौं नाई ;
सुनियतु पाथर नारि करी है, मेरी यही कमाई ।
कठवा माहिं नव चरन धराए, गोद लए बैठाई ;
डरत-डरत पै पार उतारे, रीझे श्रीरघुराई ।
कर-भूषन उतराई दीनीं, ताही कर नहिं लाई ;
नाई सौं नाई न लेति मुड़ाई, ज्यौं मलाह मल्हाई ।
तुम तारत भवसागर जन कौं, हम उतारत धर नाई ;
"प्रेमरंग" प्रभु कछुव न दीनौं, हँसि मलाह गर लाई ।

अथवा—

चरनन की महिमा, मैं जानी,
प्रगट सिला तैं निकसी सुन्दरि, पद-परसत गौतम-रानी।
देखि चरित चकित भयौ धीवर, नाव लई गहरे पानी ;
चरन-प्रछाल चढ़ौ तुम रघुबर ! दीन बचन बोलत बानी।
तरनी मेरी तारौ तुम तौ, होइ सकल कुटंब की हानी ;
"कृष्णदास कटहरिया" के प्रभु कहा जानैं नर अभिमानी।

मेरा नौका जिन चढ़ौ, त्रिभुवन-पति-राई,
मो देखत पाहन उड़े, मेरी काठ की नाई।
मैं खेवत हो पार कौं, तुम उलटि मँगाई,
मेरौ जिय यौंही डरै, मति होहि सिलाई।
मैं निरबल अति बल नहीं, जो और गढ़ाऊँ,
मो कुटंब याही लग्यौ, ऐसी कहाँ पाऊँ।
मैं निरधन कछु धन नहीं, परबार घनेरौ ;
सैंमर, ढाक, पलास काटि बाधौं तुम बेरौ।
बार-बार श्रीपति कहैं, केवट नहिं मानैं,
मन-परतीत न आवत, उड़ती ही जानैं।
नियरैं हीं जल थाह है, चलौं तुम्है बताऊँ ;
"सूरदास" की बीनती, नींकैं पहुँचाऊँ।

भैया ! एक बात और सुन लो, वह यह कि आपके इस चारु चरित्र पर, ललिता-लीला के सहारे "तुलसीदासजी" ने बड़ी मीठी चुटकी भरी है। निहायत मीठा-मजाक किया है, जैसे कि—

बिन्ध्य के बासो, उदासो तपोव्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे ;
गौतम-तीय तरी "तुलसी" सो कथा, सुनि भे मुनि-बृंद सुखारे।

ह्वै हैं सिला सब चंद-मुखी, परसैं पद-मंजुल-कंज तिहारे ;
कीन्हीं भली रघुनायकजू ! करुना करि कानन कौं पगु धारे ।

अर्थात्, भगवन् ! आपने अत्यन्त अच्छा किया जो कृपा कर कोमल-कमल-पद, कानन की ओर किये—तशरीफ़ लाने का कष्ट गवारा किया । बेचारे विन्ध्यगिर-वासी, महान् तपोव्रतधारी महा मुनि वग़ैरह, स्त्रियों के बिना बड़े दुखित थे; अजी तड़प रहे थे अस्तु, अब तो उनके "पौ-बारह" हैं, क्योंकि गौतमतीय के तरने की कमनीय कथा से सब हर्षित हो रहे हैं अतएव श्रीमान के पद-पद्म के प्रताप से सारे विन्ध्यगिरि के पत्थर—

ह्वै हैं सिला सब चन्द-मुखी, परसैं पद मंजुल-कंज तिहारे ।

—इस लिये बहुत अच्छा किया सरकार ! आपने बहुत अच्छा किया, जो कि इस ओर पधारे ।

आज दमभर में अजल का, सामना होने को था ;
ख़ैर गुज़री आ गये तुम, क्या से क्या होने को था ।

—ज़ौक

दादा ! और लो, शिला-स्वरूप मुनि-पत्नी के तरने का तिलस्मात सुन, गजराज को भी गज-गामिनी होने का शौक चर्राया है—उसे भी सुन्दर सलोनी स्त्री बनने की धुन सवार हुई है । देखिये न, इसलिये ही तो वह उस "पावन-धूलि" की प्राप्ति-प्रतीक्षा में बार-बार जगह-ब-जगह की खाक़ को अपने सिर पर सुशोभित करता फिरता है, बकौल—"रहीम" के, जैसे कि—

धूरि धरत नित सीस पै, कहु "रहीम" केहि काज ;
जेहि रज मुनि-पत्नी तरी, सो ढूँढ़त गजराज । *

* इस पर स्वर्गीय कवि "नवनीतजी" की सरस सूझ भी देखने लायक है ।

कहिये श्रीमान्! तुलसी दादा का है न हृदय—हर्षा देने-वाला मीठा-मजाक? अजी सरकार! सुनते ही कलेजे की कली खिल गई होगी! दिल, बाग-बाग हो गया होगा—हृदय हाथों उछलने लगा होगा। अजी सरकार! इन (तुलसीदास) ने एक दफे आप के साथ अपनी जोड़ी भी तो मिलाई थी—बराबर का रिश्ता भी तो लगाया था, जैसे कि—

"हौं पतित, तुम पतित-पावन दोऊ बानक बने"

❀ ❀ ❀

मैं हरि, पतित-पावन सुने;
हौं पतित, तुम पतित-पावन, दोऊ बानक बने।
ब्याधि, गनिका, गज, अजामिल, साखि निगमनि भने;
और अधम अनेक तारे, जात का पै गने।
जानि नाम अजान लीन्हें, नरक, जमपुर मने;
"दास तुलसी" सरन आयौ राखियै अपने।

श्री हरे! मैंने आपको पापियों को पवित्र करने वाला, पावन बनाने वाला सुना है, अतः मैं तो पापी हूँ और आप पतित-पावन

"सो ढूँढ़त गजराज", तरी मुनि-पतनी जासों;
डारत सूँड़ समेटि सीस, तरि जैहौं तासों।
राखि हिऐं बिसवास, "नीत-कवि" बिसे-बीस पै;
मिलि जैहैं भगवान, धूरि यौं धरत सीस पै।

कुछ ऐसे ही खूबी से भरे "खयालात" उर्दू के प्रसिद्ध कवि "मीर" ने भी बाँधा है। जैसे कि—

खाके पा उसकी है शायद किसू का सुरमए-चश्म;
खाक में अहले-नज़र, इस से रले जाते हैं।

हैं, अर्थात पापियों का उद्धार करने वाले हैं, वाह खूब बानक बना—कैसा सुन्दर मेल मिला, अनुपम जोड़ी जुड़ी क्योंकि—

"खूब मज़ा आयेगा, जब मिल बैठेंगे दिवाने दो।"

—कोई शायर

श्रीमान् ! मुझे तो पतित-पावन की, पतितों को पावन बनाने-वाले सुयोग्य वैद्य की—चतुर हकीम की, निहायत जरूरत थी और इसी तरह आपको पतितों की। चलो छुट्टी हुई, मेरी भी कमनीय कामना पूजी, और साथ साथ आपकी भी।

वह जो खंजर वकुफ़ नजर आया ;
"मीर" सौ जान से, निसार हुआ।

देखो दादा ! "सूर" भी तुलसीदासजी की हाँ-में-हाँ मिलाते हुए कहते हैं कि—

नाथ ! सकौ तौ मोहि उधारौ ;
पतितन मैं विख्यात पतित हौं, पावन नाम तिहारौ।
बड़े पतित पासंगहु नाहीं, अजामिल कौन बिचारौ ;
भाजे नरक नाम सुन मेरौ, जम नैं दयौ हठि तारौ।
छुद्र पतित तुम तारि रमा-पति, जियजु करौ जनि गारौ ;
"सूर पतित" कों ठौर कहूँ नहिं, है हरि-नाम सहारौ।

भगवान् ! किसी एक भक्त ने आपकी और अपनी तुलसीदासजी के समान बड़ी सुन्दर जोड़ी मिलाई है—स्वामी-सेवक के भाव साम्य पर बड़ी सुन्दर सूक्ति सूजी है। यथा—

मैं तौ हौं पतित, तुम पावन-पतित नाथ !
पावन-पतित हौ तौ पातक हरौईगे ;
मैं तौ महा दीन, तुम दीन-बन्धु दीनानाथ !
दीन-बन्धु हौ तौ दया जीब पै धरौईगे।

मै तौ हौं गरीब, तुम तारक गरीबन के,
तारक-गरीब हौ तौ बिरद बरौईगे,
मेरी करनी पै कछु मुकर न कीजै कान्ह !
करुना-निधान हौ तौ करुना करौईगे।

अथवा—

अधम-उधारन नमवा, सुनि कर तोर,
अधम काम की. बटियाँ गहि मन मोर।

श्रीमान् ! गोस्वामीजी कुछ ऐसे-वैसे आदमी न थे अपितु एक उद्भट साहसी, और निहायत चलते-पुर्जे थे। अस्तु: जब उनने जाना कि—आपके अनुपम दरबार में, कमनीय कचहरी में किसी तरह भी पहुँच नहीं हो सकती, तो बैठे-ठाले एक बैरंग चिट्ठी ही लिख डाली। जिसका कि नाम—

"विनय-पत्रिका"

—है। पत्रिका (चिट्ठी) क्या है पूरे जीवन का लम्बा चौड़ा पचड़ा है—कर्म-विपाक का कच्चा चिट्ठा है।

लिखते रुक्का, लिख गये दफ़्तर,
शौक़ ने बात क्या बढ़ाई है।

—मीर

और उसका मन-मौजी—"मजमून" तो कुछ ऐसा प्रभावोत्पादक है, कुछ ऐसी तासीर से तराबोर है कि—पत्थर का कलेजा भी "मोम" हो जाय अथवा पिघल कर पानी-पानी हो जाय। अस्तु: बेचारे गोस्वामीजी जब "पत्रिका" का अधिकांश हिस्सा लिख चुके, परचे पर परचे प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत कर चुके, तब उनके मन-मुकुल में यकायक खयाल आया, एका एकी सूझा कि कहीं मेरा उक्त रोना, सारी कर्म-कहानी कहना, भुस का कूंटना

ही न समझा जाय, इसलिये एक पद में आप (गोस्वामीजी) ने ऐसी फबन-फबीली फटकार बतलाई, कुछ ऐसी पुर जोश भरी आव-भगत की, कि जिसे सुनकर, व देखकर, सारे होशो-हवास दुरुस्त हो जाँय ! सम्पूर्ण मिजाज ठीक-ठिकाने आ जाय, जैसे कि—

हौं अबलौं करतूत तिहारिय, चितवत हुतौ न रावरे ! चेते ;
अब "तुलसी" पूतरौ बाँधि है, सहि न जात मो पै परिहास ऐते ।

❀ ❀ ❀

तब तुम मोहू से सठनि कौं हठि गति देते ;
कैसौं हुँ नाम लेहि कोउ पामर, सुनि सादर आगैं ह्वै......लेते ।
पाप-खानि जिय जानि अजामिल, जमगन तमकि तये ताकौं भेते ;
लियौ छुड़ाइ चले कर-मींजत, पीसत दाँत गये रिस रेते ।
गौतम-तिय, गज, गीध, बिटप, कपि, हैं नाथहिं नींके मालुम जेते ;
तिन्ह-तिन्ह काजनि साधु सभा तजि, कृपा-सिंधु तब-तब उठि गेते ।
अजहुँ अधिक आदर यहि द्वारें, पतित-पुनीत होत नहिं केते ;
मेरे पासंगहु न पूँजिहैं, ह्वै गये हैं, होने, खल......जेते ।
हौं अबलौं करतूत तिहारिय, चितवत हुतो न रावरे ! चेते ;
अब "तुलसी" पूतरौ बाँधि है, सहि न जात मो पै परिहास ऐते ।

अर्थात् , श्रीमान् ! पहिले तो आप मुझ जैसे महा पतितों को, महान् दुष्टों को, हठ करके—जबर्दस्ती के ज्वलन्त उदाहरण उपस्थित करते हुए, प्रबल इच्छापूर्वक सद्गति देते थे ! यानी मोक्ष का सर्टीफिकेट अता फर्माते थे ! कोई कैसा ही महान्-से-महान् पातकी क्यों न हो, कैसा ही घोर पापी क्यों न हो, आपका नाम लेते ही, आप आदर के साथ आगे बढ़कर अगवानी करते हुए अपना कर लेते थे ! पर न मालूम आजकल आपको क्या हो गया है, यकायक क्या मिजाज ने पलटा खाया है, क्या खब्तगी

सवार हुई है कि जो मुझ जैसे पतितों की तरफ ध्यान ही नहीं देते—ख्याल ही नहीं लाते, भला ऐसा भी तो क्या ? अथवा कहिये—कहिये ! कि कोई दुष्ट ही नहीं रहा ? पापी ही न रहा ? नहीं-नहीं, प्रभो ! मैं तो सब पतितों का तिलक—सबका शिरोमणि, और ईश हूँ, जैसे कि—

प्रभु मैं सब पतितन कौ टीकौ ;
और पतित सब दिना-चार के, हौं तौ जनमत ही कौ ।
बधिक, अजामिल, गनिका तारी, और पूतना ही कौ ;
मोहि छाँड़ि तुम और उधारे, मिटै सोक क्यों जी कौ ।
कोउ न समरथ अघ करिबे कौं, खैंचि कहति हौं लीकौ ;
मरियतु लाज "सूर" पतितन मैं, मोहू तैं को नींकौ ।

❀ ❀ ❀

हौं तौ पतित-सिरोमनि माधौ ;
अजामेल बातन हीं तार्यौ, सुन्यौं जो मो तैं आधौ ।
कै प्रभु ! हारि मान कैं बैठौ, कै अब ही निस्तारौ ;
"सूर-पतित" कौं और ठौर नहिं, है हरि नाम सहारौ ।

❀ ❀ ❀

हरि हौं सब पतितन-पतितेस ;
और न सर करिबे कौं दूजौ, महा-मोह मम-देस ।
आसा के सिंघासन बैठ्यौ, दंभ-छत्र सिर तान्यौं,
अपजस अति "नकीब" कहि टेर्यौं, सब सिर आइ समान्यौं ।
मंत्री काम, क्रोध निज दोऊ, अपनी-अपनी रीति,
दुबिधा-दुंद होत निसि-बासर, उपजावत अनरीति ।
मोदी लोभ खवासि मोह के, द्वारपाल हंकार ।
पाठ अहंममता है मेरौ, माया के अधिकार ।

सेबक-तिसना भ्रमत टहल हित, लहत न छिन बिसराम ,
अनाचार-सेबक सौं मिलि कैं, करत चाबवि न काम ।
बाज-मनोरथ, गरब-मत्त-गज, असत कुमति-रथ-सूत ,
पाइक-मन बानैत अधीरज, सदाँ दुष्ट-मति-दूत ।
गढ़ तजि भजे नरक-पति मोसौं, लींने मूंदिकिवार ,
सैंना संग भाँति बहुतक की, कींने पाप-अपार ।
निंदा जग उपहास करत मग, बंदी-जन जस-गावैं ,
हठ, अन्याइ, अधर्म "सूर" नित नौबत द्वार बजावैं ।

—अथवा कुछ और कारण है, कहो-कहो दादा ! कुछ बतलाइये न, देखिये सरकार ! यमदूतों ने अजामील को अपने मन में महा पापों की खान, अनेक पातकों का पिटारा पहिचान, उसे डाटा-डपटा, भय दिखलाया, कितने ही कष्ट दिये, पर आपने—प्रेमवश नामोच्चारण के नाते, उसे हाथों-हाथ उबार लिया । बेचारे-यमदूत हाथ मल-मल पछताते हुए और दात पीसते क्रोध में उन्मत्त हो चले गये, हाय ! कुछ भी बस न चलाते चला । किस-किस की कहूँ ! गौतम की स्त्री अहल्या, हाथी, गीध, वृत्त यानी यमलार्जुन, बंदर और भी जो-जो हों; जिनको आप अच्छी तरह जानते हैं, उन सबका जब-जब कोई काम पड़ा, कोई भी कार्य आ कूदा, तब ही तब आप सुन्दर-से-सुन्दर संत-समाज को त्याग कर झट, झपटकर चले गये, जरा भी मौके-बे-मौके का खयाल न किया, उनका कष्ट क्षणमात्र भी तो सहन न हो सका ! तुर्त-फुर्त भागते ही तो नजर आते थे ! ओह ! उस समय कितनी आतुरता होती थी ! भगवन् ! उस समय आपका भागना गजब का होता है "गजब' का ! जिसका तनकसा अजूबा अन्दाजा "रत्नाकर" ने आँका है । यथा—

रमत रमा के संग आनँद-उमंग भरे,
अंग परे थहरि मतंग अवराधे पै;
कहै "रतनाकर" बदन-दुति औरै भई,
बूँदै छई छलकि दृगनि नेह-नाधे पै।
धाए उठि बार न उबारन मैं लाई रंच,
चंचला हूँ चकित रही ह्वै बेग साधे पै;
आवत बितुंड की पुकार मग-आधे मिली—
लौटत मिल्यौ त्यौं पच्छिराज मग-आधे पै।

अथवा—

गुनि गज-भीर, गह्यौ चीर-कमला कौ तजि,
ह्वै हरि अधीर पीर उमँग अथाह मैं;
कहै "रतनाकर" चपल चक्र वाहि चले,
बक्र-ग्राह-निग्रह के अमित-उछाह मैं।
पच्छीपति, पौंन, चंचला सौं, चख-चंचल सौं—
चित्त हूँ सौं चौगुने चपल चलि राह मैं;
बारन उबारि दसा दारुन बिलोकि तासु—
हुचकन लागे आप करुना प्रबाह मैं।

एक और—

परत पुकार कान, कानि करुना की आनि,
सहित उदेग बेगि बिकल बिकाने से;
कहै "रतनाकर" रमा हूँ कौं बिहाइ धाइ—
औचक हीं आइ भरे-भाइ सकुचाने से।
आतुर उबारि, पुचकारि, धरनी पै धारि,
अमित अपार-स्रम भभरि भुलाने से;
फेरत भुसुंड पै कँपत कर पुंडरीक!
बिकल बितुंड-सुंड हेरत हिराने से।

गोविन्द ! गीध के प्रति प्रदर्शित कृतज्ञता की कहानी, कान लगा कर न सुनियेगा ! वह गुनन-गरूली-गाथा, क्या यों ही गवाँ दी जाय ? अस्तु तबीयत नहीं मानती—ज़बाँ उस मिठास के मजे को मकफूल करने से बाज नहीं आती। जैसे कि—

राघौ ! गीध गोद करि लीन्हौ ,
नैंन-सरोज-सनेह-सलिल-सुचि, मनहुँ अरघ-जल दीन्हौं।
सुनहुँ लखन ! खग-पतिहि, मिलैं बनु, मैं पितु-मरन न जान्यौ ,
सहि न सक्यौ सो कठिन बिधाता, बड़ौ पछु आजुहि भान्यौ।
बहु बिध राम ! कह्यौ तन राखन, परम धीर नहिं डोल्यौ ,
रोकि प्रेंम, अवलोकि बदन बिधु, बचन-मनोहर बोल्यौ।
"तुलसी" प्रभु झूँठे-जीवन-जग, समैं न धोखौ लैहौं ,
जाकौ नाम मरत मुनि दुरलभ, तुमहिं कहाँ पुनि पैहौं।*

सरकार ! जाने दीजिये इन पुराने-पचड़ों को ! इन फटे-पुराने चिथड़ों के पलटने से क्या फ़ायदा ! गयी-गुजरी बातों का बार-बार जिक्र करने से क्या लाभ ? पर, भगवन् ! यह तो कहिये कि क्या इन पुरानी-धुरानी गुण गाथाओं के साथ-साथ नयी-नाज़बर-दारी से भी नेत्र हटा लिये जाय ! इस कारुणिक-चित्र से भी मुँह मोड़ लिया जाय—तर्के मवालात का एकदम बिगुल बजा दिया

* तुलसीदास जी की कोमल कृति पर किसी कवि ने क्याही सुन्दर चार चाँद लगाये हैं—

दीन, मलीन, दुखी, अँग-हीन, बिहंग परौ छित-छीन दुखारी ,
राघव दीन-दयालु कृपालु कौं, देखि दुखी करुना भरे भारी।
गीध कौं गोद मैं राखि कृपा-निधि, नैंन-सरोजन मौ जलवारी ,
बारहि बार सुधारत पंख, 'जटायू' की धूरि जटान तैं झारी।

—पांड़ेयजी से प्राप्त

जाय ! कहिये—कहिये नाथ ! कहिये न, द्रोपदी की पुकार पर—उसकी आजिज भरी दर्द-शखुनवरी पर भी तो, कुछ ऐसी ही आतुरता से अलंकृत हृदय-हारी हड़बड़ी पड़ गयी थी । जैसे कि—

दीन द्रोपदी की परतंत्रता-पुकार ज्यौंहीं—
तंत्र बिनु आई मन-जंत्र-बिजुरीनि पै ;
कहै "रतनाकर" त्यौं कान्ह की कृपा की काँनि,
आनि लसी चातुरी-बिहीन आतुरीनि पै ।

अस्तु—

अंग पर्‌यो थहरि, लहरि दृग-रंग पर्‌यौ,
तंग पर्‌यौ बसन सुरंग-पसुरीनि पै ;
पंचजन्य चूमन हुँमसि होठ-बक्र लाग्यौ—
चक्र लाग्यौ फिरनु उमँगि अँगुरीनि पै ।

दीनबन्धो ! दीना-हीना द्रोपदी की पुकार में, उसकी आजिज भरी आरजू में, ऐसा क्या रहस्य था ? कौन-सा कारण था ? आपके कोमल-हृदय को कौन से अज्ञात, पर क्षीण-तन्तु से बाँध रखा था ? जिसने कि आपके अक्षुण्ण-आसन को हिला दिया । दयानिधे ! कहिये-कहिये, वह कौन-सी भाव-भूषित सरस-सरिता थी, जिसके अवगाहन निमित्त छिपे-छिपे द्वारिका से दौड़ कर इन्द्रप्रस्थ आ उपस्थित हुए । हाँ-हाँ क्या कहा कि अनन्यता ! केवल अनन्यता ! कौन-सी अनन्यता यही न कि—

सान्तनु की सान्ति, कुल-कान्ति चित्र अंगद की
गंग-सुत-आनन की आभा बिसराइगी ;
कहै "रतनाकर" करन द्रौंन-बीरन की,
स्रौंन-सुनी धरम-धुरीनता बिलाइगी ।

द्रौपदी कहति अफनाइ रजपूती सबै—
उतरी हमारी सारी माँहिं कफनाइगी ;
द्रुपद-महीपति की, पंच-पतिहू की हाइ—
पंच-पतिहू के पति हू की पति जाइगी।

अथवा—

पाँडु की पतोहू भरी सुजन-सभा मैं जब—
आई एकु-चीर सौं तौ धीर सब ख्वै चुकी ;
कहै "रतनाकर" जो रोइबौ हुतौ सो तबै—
धाड़मारि, बिलखि, गुहारि सब ख्वै चुकी।
झटकत सोऊ पट-बिकट दुसासन है,
अब तौ तिहारी हू कृपा की बाट ज्वै चुकी ;
पाँच-पाँच नाथ होत, नाथन के नाथ होत,
हाइ हौं अनाथ होत, नाथ ! बस ह्वै चुकी।

इसके अनन्तर—

भीषम कौं प्रेरौं, करन हू कौ मुख हेरौं हाइ, !
सकल सभा की ओर दीन-दृग फेरौं मैं ;
कहै "रतनाकर" त्यौं अंध हू के आगैं रोइ—
खोइ दीठि चाहति अनीठिहिं निबेरौं मैं।
हारी जदुनाथ ! जदुनाथ ! हू पुकारि नाथ !
हाथ दाबि कढ़त करेजहि दरेरौं मैं ;
देखि रजपूती की सकल करतूती अब—
एकु बार बहुरि "गुपाल" कहि टेरौं मैं।

अस्तु फिर क्या था—

भरि दृग नीर ज्यौं अधीर द्रौपदी ह्वै दीन,
कीन्हौं ध्यान कान्ह की महान प्रभुता कौ है ;
कहै "रतनाकर" त्यौं पट मैं समाने आइ—
अकल असीम भाइ दीन-बन्धुता कौ है।

चौचक समाज सब औचक पुकारि उठ्यौ,
गारि उठ्यौ गहब गुमान गरुता कौ है;
चौदहैं अनन्त जग जानत हुतै पै इहि—
पन्द्रहौ-अनन्त-चीर द्रुपद-सुता कौ है।

रत्नाकरजी के उक्त पद समूह पर एक बहुत पुरानी "लावनी" याद आ रही है, जैसे—

बिन-काज आज महाराज! लाज गई मेरी,
दुख हरौ द्वारकानाथ! सरन मैं तेरी।
दुस्सासन-बंस-कुठार, महा दुख दाई,
कर-पकरत मेरौ चीर, लाज नहिं आई।
अब भयौ धरम कौ नास, पाप रह्यौ छाई,
लखि अधम-सभा की ओर, नारि बिलखाई।
सकुनी, दुरजोधन, करन खरे—खल घेरी;
दुख हरौ द्वारिकानाथ! सरन मैं तेरी।
तुम दीनन की सुधि लेति देवकीनंदन,
महिमा अनंत, भगवंत, भक्त-भै भंजन।
तुम कियौ सिया-दुख दूर, संभु-धनु खंडन,
अति-आरत-हरन गुपाल! मुनिन-मन-रंजन।
करुना निधान, भगवान! करी क्यौं देरी,
दुख हरौ द्वारिकानाथ! सरन मैं तेरी।
बैठे सब राज-समाज, नीति सब खोई,
नहिं कहत धरम की बात, सभा मैं कोई।
पाँचौ पति बैठे मौन, कौन गति होई,
लै नँद-नंदन कौ नाम, द्रोपदी रोई।
करि-करि बिलाप, संताप सभा मैं टेरी,
दुख हरौ द्वारिकानाथ! सरन मैं तेरी।

तुम सुनि गजेन्द्र की टेर, बिस्व अबिनासी ,
तब जाइ छुड़ाई बद, कोटि पग फाँसी ।
मैं जपौं तिहारौ नाम, द्वारिकाबासी ,
अब नाँहक राज-समाज करावत हाँसी ।
अब कृपा करौ जदुनाथ ! जानि चित चेरी ,
दुख हरौ द्वारिकानाथ ! सरन मैं तेरी ।

तुम पति राखी प्रहलाद, दीन-दुख टारौ ,
भए खंभ फारि नरसिंघ, असुर-संघारौ ।
ब्रज खेलत केसी आदि, बकासुर मारौ ,
मथुरा मुस्टिक, चाँडूर, कंस-मद-जारौ ।
पुनि मात-पिता की आनि कटाई बेरी ,
दुख हरौ द्वारिकानाथ ! सरन मैं तेरी ।

लयौ भक्तन-हित अवतार कन्हाई ! तुमनैं ,
जमलार्जुन की जड़-जोनि, छुटाई तुमनैं ।
जल बरसत प्रभुता अगम, दिखाई तुमनैं ,
नख पै गिरि-धरि, ब्रज लयौ बचाई तुमनैं ।
प्रभु ! अब बिलंब क्यौं कियौ हमारी बेरी ,
दुख हरौ द्वारिकानाथ ! सरन मैं तेरी ।

सुनि, दीनबन्धु भगवान्, भक्त हितकारी ,
भए आइ चीर मैं प्रगट, हरौ दुख भारी ।
खैंचत हारौ मतिमंद, बीर बलकारी ,
रखि लई दीन की लाज, आज बनवारी ।
धाए द्रोपदि के हेत करी ना देरी ;
दुख हरौ द्वारिकानाथ ! सरन मैं तेरी ।

कहा करी द्वारिकानाथ ! मनोहर माया ,
अम्बर कौ लग्यौ पहार, पार नहिं पाया ।

तिहुँ लोक चतुरदस चीर देखि घबराया,
बंदित "गनेसपरसाद" कृष्ण-गुन-गाया।
दीनन के दीनानाथ ! बिपद निरबेरी;
दुख हरौ द्वारिकानाथ ! सरन मैं तेरी।

क्यों नाथ ! द्रोपदी के झपटते हुए "सुपट" में प्रस्फुटित होते हुए प्रचुर परिश्रम पड़ा होगा ! इस तंग-दायरे में दुरते हुए—छिपते हुए, ओह छलिया ! निहायत कष्ट हुआ होगा ! और जरूर हुआ होगा ? पर, पीत-पटधारी लला ! आपके इस अपरिमित परिश्रम की "पोल" "मोहन कवि" ने बड़ी सुन्दरता से खोली है। अस्तु सुनिये, और बतलाइये कि—

कबै आपु गए हे बिसाहन बजार बीचि,
कबै बोलि जुलहा बुनाए दर-पट सौं,
नंद जू की काँमरी न काहू बसुदेव जू की,
तीन हाथ पटुका लपेटैं रहे कट सौं।
"मौंहन" भनत यामैं रावरी बड़ाई कहा—
राखि लीन्ही आँन-बाँन ऐसे नटखट सौं,
गोपिन के लीन्हे तब चोरि-चोरि चीर अब-
जोरि-जोरि दैन लागे द्रोपदी के पट सौं।

—हाँ-हाँ बतलाइये साहब ! खरीदने के लिये बाजार कब तशरीफ ले गये थे ! अथवा किस जुलाहे से ऐसे सुन्दर समीचीन कपड़े बुनवाये ! क्योंकि श्रीमान् तो सिर्फ तीन हाथ की लँगोटी लगाये और कालाकम्बल—सो भी न जाने "नंद बाबा" का था ? या वसुदेवजी ने ही बाजार से लेकर भेज दिया था ? ओढ़े डोलते थे, था क्या पास ! अस्तु, भगवन् ! इन गुनन-गरूली गोपबालाओं के गुण गाइये, जिनकी बदौलत शान रह गयी—इनके

चुराये चीर आज काम आ गये, और इस तरह नटखटपने से आन-बान बनी रह गयी। लेकिन श्रीमान्! यह तो बतलाइये कि इसमें आपकी बड़ाई क्या है, जिसका कि ये निठल्ले लोग ऐसा ललित वर्णन कर रहे हैं।

किया ग़ैरों को क़त्ल उसने मरे हम शर्म के मारे;
हमें तो मौत भी आई नसीबे-दुश्मना होकर।

—दाग़

—अस्तु; जो कुछ भी हो, इस दरवाजे पर आज भी पतितों का अपूर्व आदर सत्कार होता है। नित्य नये पापी, पवित्र बनाये जाते हैं। फिर क्या मैं ही कुछ कम हूँ? अजी हज़रत! मैं तो बहुत बड़ा पापी हूँ। संसार में जितने पापी हुए हैं, और हैं, अथवा होंगे, वह क्या मेरे पासंग में भी आ सकते हैं? इसलिये मेरा उद्धार तो सबसे पहिले होना चाहिये था—मुझे तो सबसे पहिले पवित्र बनाना चाहिये था, तारना चाहिये था? सो कुछ न हुआ इससे यह न समझ जाइयेगा कि इसके लिये कुछ करने-धरने की अब जरूरत नहीं है, चिल्लाता है तो चिल्लाने दो! नहीं-नहीं हुजूर! मैं तो अब तक आपके कमनीय करतब को, रमणीय रफ्तार को इकटक देख रहा था कि आप मेरे लिये क्या-क्या करते हैं? कौन-कौन सी तजबीज नुमाया कर अपनाते हैं? शरण में लेते हैं, पर आपने आज तक कुछ न किया, यहाँ तक कि आँख उठाकर देखा भी नहीं; चेताने से भी न चेते! अस्तु ठहरिये, अब आपका और आपकी इस निठुराई का ठीक-ठीक इलाज करता हूँ, वह यह कि—

अब "तुलसी" पूतरो बाँधि है, सहि न जात मो पै परिहास एते!

—अर्थात् अब आपका एक पुतला बना और बाँस में लटका, जगह-ब-जगह दिखलाता फिरूँगा—गाँव-गाँव कहता डोलूँगा; शहर-शहर शोर मचाऊँगा कि भाई देख लो ? यही अयोध्या के राजाधिराज सूम-सरदार श्री रामचन्द्र जी हैं। कहिये ऐसा करने से आपकी काफी धूल न उड़ेगी ? कलई न खुलेगी ? क्या इतने पर भी श्रीमान् को लाज न आयेगी ?

तुम्हारा रूठना हर बार का, अच्छा नहीं देखो,
बुरे हैं हम, जो दिल पर रखते हैं, वह कर गुजरते हैं।

—हाँ साहब ! लाज न आयेगी, शर्म को सफा कर जायँगे ? कर जाइये—कर जाइये ! क्योंकि—

एका लज्जां परित्यज्य त्रैलोक्य विजयी भवेत्

लेकिन—

गिरि तें गिरि परिबौ भलौ, भलौ पकरिबौ नाग,
अगिनि माँहि जरिबौ भलौ, बुरौ सील कौ त्याग।

—कोई कवि

—यानी गिरि से—पर्वत से, गिर पड़ना अच्छा, काले नाग को पकड़ना भी सुन्दर, और अग्नि में दग्ध हो जाना, जल जाना तो निहायत अच्छा—अतीव सुन्दर, लेकिन शीलताई का त्याग करना, लज्जा को पृथक् कर देना, एक दम बुरा।

गो बहुत ऐसे हैं जो मरते है अपनी नेक नामी पर,
बहुत ऐसे हैं जो बदनामियों से नाम करते हैं।

—कोई शायर

—अस्तु; इस संसार से संतप्त जीवों का अब भी उद्धार करो ! इसे अब भी पावन करो, अब भी अपनाओ ! कुछ बिगड़ नहीं जायगा ? क्योंकि—

कहा-कहा नहिं सहत सरीर ,
स्याम-सरन बिनु करम सहाइ न, जनम-मरन की पीर ।
करुनाबंत ! साधु-संगति बिनु, मनहिं देइ को धीर ;
भक्ति-भाव बिनु को कहौ मैंटे, सुख दै दुख की भीर ।
बिनु अपराध चहूँ दिसि बरसत, पिसुन-बचन अति तीर ;
कृष्ण-कृपा-कबचि तैं उबरै, पावै तब ही सीर ।
चेतहु भैया ! बेगि बढ़ी कलिकाल नदी गंभीर ;
"व्यास" बचन बलि बृन्दाबन बसि, सेबहु कुंज-कुटीर ।

अथवा—

धरम दुर्‌यौ कलिराज दिखाई ;
कींनौं प्रगट प्रताप आपुनौं, सब बिपरीति चलाई ।
धन भौ मीत, धरम भौ बैरी, पतितन सौं हितबाई ;
जोगी, जती, तपी सन्यासी, ब्रत छाँड्यौ अकुलाई ।
बरनास्रम की कौंन चलावै, संतन हूँ मैं आई ;
देखत संत भयानक लागत, भावत ससुर जमाई ।
संपत, सुकृत, सनेह, मान, चित, ग्रह-त्यौहार बड़ाई ;
कियौ कुमंत्री लोभ आपुनौं, महा-मोह जु सहाई ।
काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह हू, दीन्हीं देस दुहाई ;
दान लैंन कौं बड़े-पातकी, मचलन कौं बँभनाई ।
उपदेसन कौं गुरू गुसाँई, आचरनैं......अधमाई ;
"व्यास" दास के सुकृत साँकरे मैं गोपाल सहाई ।

—इसलिए अपनाओ—अपनाओ ! ऐं, क्या न अपनाओगे ? अच्छा न अपनाओ ! पर लोग-बाग आपको झूठा कहेंगे ! मिथ्यावादी के सम्बोधन से सम्मानित करेंगे ! क्यों झूठे बनते हो ? सो समझ में नहीं आता—

अब कलिकाल मैं करौ जो न सहाइ मेरी,
तुम्हैं लोग हँसिकैं कहैंगे हरि झूँठे हौ ।
—कोई कवि

हाँ-हाँ झूठे हो ! झूठे हो ! अवश्य झूठे हो ! इसमें सन्देह ही क्या है ? गुञ्जाइश की जरूरत ही क्या है ?

झूँठी-झूँठी सौंहैं 'हरि' नित खात ;
फिर जब मिलत मरू कै, उतर बतात । *
— रहीम

भैया ! बुरा न मानो, उक्त ख़िताब तो एक बार नहीं अनेक बार गोपियों के "पार्लमेंट" से, "कमनीय कौंसिल" से कई बार प्राप्त हो चुका है ? कितनी ही दफे इस "सर्टीफिकेट" के सहारे आप अनुचित इल्जामात से अलहदा हो चुके हो ! यह तो झूठ बोलने के लिये "बपतिस्मा" है, अस्तु, चुपचाप कुछ नफीस आयतें और सुनिये, बनने बिगड़ने की जरूरत ही क्या है; जैसे—

आओ मेरे मोहन प्यारे झूंठे ,
अपनी छाँड़ि प्रतिज्ञा कपटी, उलटे हमसौं रूठे ।
मत परसौ तन, रँगे और के, रंग अधर तव जूठे ,
ताहू पै तनकौ नहिं लाजत निरलज्ज अहो अनूठे ।

अथवा—

आओ मेरे झूंठेन के सिरताज ,
छल के रूप, कपट की मूरत, मिथ्याबाद जहाज ।

* रहीमजी ने इसी भावनामय भाव को एक जगह और भी दुहराया है—
जब तब मोहन झूँठी सौंहैं खात ;
इन बातन ही प्यारे ! चतुर कहात ।

क्यौं परतिज्ञा करी रह्यौ जो, ऐसौ उलटौ काज ,
पहिलैं तौ अपनाइ न आवत, तजिबे मैं अब लाज । *

भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी की हाँ-में-हाँ मिलाते अब्दुलरहीम खान-खाना साहब भी यही खिताब अता करते हुए फर्माते हैं—

निरमोही अति झूँठौ, साँवर गात ,
चुभ्यौ रहत चित कौधौं, जानि न जात ।

श्रीमान् ! सत्यता का "सर्टिफिकेट" और लो । देखो वह आपके प्रेम की पिपासी गोपी आपसे क्या कह रही है—

भली कीनीं लाल-गिरधर ! भौर आए बोल साँचे ,
जुवती-वल्लभ बिरध कहियतु, यातैं तुम भले हो बाँचे ।
इहाँ आए कौं नैं पठाए, मानौं मंत्र मत्री अति काँचे ,
तहँइ सिधारौ लालन ? जा तिय सँग रैन-राँचे ।
सूके-अधर, साँसु थिर नाहीं नब-तिय-सँग बँद-बाँचे ,
सुनि "कृष्णदास" नागरी कहति, ज्यौंही नचाए त्यौंही नाँचे ।

वाह भगवन् ! "बलिहारी लला इन बोलन की" । आह ! कितनी सत्यता से संयुक्त अपने बचनों को निबाहते हो । किस सुन्दरता से उनका प्रतिपालन करते हो ! वाह ! क्या कहना है ।

जो मिलना न चाहो, बहाने बहुत हैं ,
जगह जा-बजा हैं, ठिकाने बहुत हैं ।

* अपने प्यारे को एक जगह नजीर ने भी "झूठों का बादशाह" बनाया है—

कहा था कि हम रात आयेंगे आह ,
रहे साथ ग़ैरों के तासुब्हगाह ।
पटक सर को हम रह गये देख राह ,
"बड़े तुम भी हो झूठों के बादशाह ।"
मियाँ वाहवा, वाहवा, वाह-वाह ।

लेकिन गिरधर ! यह तो कहिये कि किस कच्चे मंत्री ने किस बेअकल के बहादुर ने, सुबह ही सुबह यहाँ (मेरे यहाँ) पधारने की पवित्र परवानगी का मनोहर मंत्र (आपके) कानों में फूंक दिया; किसने प्रियतमा के संसर्ग की सुविधा में असुविधा उपस्थित कर दी ! बतलाइये साहब ! बतलाइये ! न बतलाओगे, अच्छा न बतलाओ ! तो फिर भी सुनो—

साँझु के साँचे बोल तिहारे ;
रजनी अनत जागि नंद-नंदन ! आए निपट सबारे।
आतुर भएँ नील-पट ओढ्यौ, पियरे बसन-बिसारे ;
"कुंभनदास" प्रभु गिरधरन भले जु, सत्य बचन प्रतिपारे।

उफ़ ! नाथ ! झूठ बोलने में कितने पटु हैं ! कितने उस्ताद हैं ! कितना कमाल करते हैं ! कि कुछ कहा नहीं जाता। यार लोगों ने तब ही तो आपको—

"चौर, जार शिखामणि-"

—कि उपाधि से पुरस्कृत कर रखा है। वाह ! उक्त ख़िताब ने कैसे सुन्दर चार-चाँद लगा दिये, जो कि देखते ही बनते हैं कहते नहीं।

कभी मेंहदी का है हीला, कभी सर में दरद ,
रोज लाता है नया रंग बहाना तेरा।

—नासिख

भैया ! आप अपनी इस असत्यता अलंकृत "अल्काव" के दो चार उदाहरण और लीजिये। यथा—

लाल के भाल में पावक सी अवलोकति जावक-जोति जगाएँ,
दौरि कैं गोरी गहे अँगुवानु कौं 'जसबंत' सखी सौ कहै चितलाएँ।

दीजै हमैं जू बताइ हमरी सौं, बूझति तोहि हितू हित पाएँ,
काल तौ द्वैज कौ टीकौ कह्यौ, अब आजु कहौ ये कहा हैं लगाएँ।

—सुन्दरी-तिलक

अंजन-बिंदु बन्यौं अधरानु पै, मैं छबि आजु अनूपम पेखी ;
तो पुतरीन की छाप परी ढरि, और की और अली लखि लेखी।
जो यह छाँह तौ नाह ! कहा यह, है नख-रेख हिएं अबरेखी ;
लाइ लई हँसिकैं हिय मैं, कहि तेरी सौं तेरी है, तैं अब देखी। ❀

—कोई कवि

भगवन् ! जान लिया, जान लिया, आपका सारा मरम जान लिया ! मुख की मधुर-मधुर बातें तो तुझसे, लेकिन जिय की—हृदय की, हक़ीकी बातें औरों से—

जान्यौं प्रीति कौ मरम ;
मुख की मोसौं, जिय की औरनु सौं, पायौ तिहारौ भरम।
ऐसी कौंन बाल जिन रस बस किए, जनियतु हिय के नरम ;
"हरिनाराइन स्यामदास" के प्रभु, भली कींनीं भोर आए चतुर परम।

❀ उक्त सवैया से श्रीसूर कृत "पद" का भाव बड़ा सुन्दर है, अतीव हृदय-बेधक है। यथा—

नख कहाँ लागे ? बन-बनरा लगाए नख ,
चख क्यों राते ? प्रात देख्यौ तातै भान कौं ,
चंदन लगायौ कहाँ? बिघन-हरन पूंजा करी ,
बंदन लग्यौ है कहाँ ? परस भयौ थान कौं।
रैंन मैं रहे कहाँ ? नट-निरतत जहाँ ,
अरबरे—बोलौ क्यौं ? डर भयौ आन कौं ,
गुजरी सो गुजरी अब आगै आइ ठाड़े "सूर"
थेगरी कहाँ लौ देत फाटे आसमान कौं।

अथवा—

ना जानौं कौंन भाँति मिलौगे, तिहारी भँवर कीसी रीति ;
जित सुगंध पावत, तित ही धावत हौ, तुम गरज परे के मीति।
"आनँदघन" ब्रज-मौंहन प्यारे ! ठौर-ठौर के रस चाखत हौ, कैसैं करैं परतीति ;

सच बात तो यह है कि श्रीमान ! आप अपनी ही गरज के गाहक हो ! निहायत मतलबी हो ! अपनी आन-बान के अलावा और कुछ जानते ही नहीं ! स्व-स्वार्थ के सिवा और कुछ सूझता ही नहीं ! दूसरे के दर्दो-गम से कोई सरोकार ही नहीं ! तभी तो— कपटी, कुटिल, निरमोही, झूठे आदि उपाधियों से अलंकृत होना पड़ता है, जैसे कि—

जिय की न जानत हौ पिय ! अपनी गरज के गाहक,
मृदु मुसिकाइ, ललचाइ आइ ढिंग, हरत परायौ हो मन नाहक।
कपटी, कुटिल नेह नहिं जानत, छल सौं फिरत घर-घर-रस चाहक,
ए निरदई दई स्याम-घन ! "परमानंद" करेजे के साहक।

अस्तु भगवन् !

गिला मैं जिस से करूं, तेरी बेवफाई का,
जहाँ में नाम न ले फिर कोई आशनाई का।*

अथवा—

तिहारे पूंजिऐ पिय ! पाँइ ;
कैसी-कैसी उपजतु तुम कौं, कहत बनाइ-बनाइ।

* मीर की इस सदा पर "सौदा" भी फिदा थे, अस्तु इस भाव को आपने भी अपनाया—

गिला लिखूँ मैं अगर तेरी बेवफ़ाई का ;
लहू में ग़र्क़ सफ़ीना हो आशनाई का।

आतुर भए नील-पट ओढ्यौ, बसन पीत पलटाइ ;
रुचिर कपोल पीक तैं पागे, ज्यौं जै-पत्र लखाइ ।
गिरधरलाल ! जहाँ निसि जागे, अनख न तन की जाइ ;
'कुंभनदास' प्रभु जानि लई बतियाँ , अब तुमैं कौन पत्याइ ।

ठीक है—ठीक है, क्योंकि—

झूंठी-झूंठी बातन हो लालन ! कैसैं मन मानैं ;
उर सौं बनाइ-बनाइ वासौं कहिऐ, जो हिय की नहिं जानैं ।
रति के चिन्ह प्रगट देखियतु—सब कैसैं जाँइ दुरानैं ।
"कुंभनदास" प्रभु गोबरधन-धारि, तुम हौ भले सयानैं ।

निकुंज-नायक ! जैसा कि पूर्व में प्रदर्शित किया जा चुका है कि—"आपके ये अपूर्व जन भी, कुछ कम चंट और चालाक नहीं हैं । आप डाल-डाल, तो ये पात-पात हमेशा चलते हैं" । अस्तु, सर्वस्वहारी ! जब आपको इस "मदाखलत-बेजा" के मुकद्दमे में सापराध प्रमाणित करने का अन्य उपाय न देखा तब एक दूसरे ही चुलबुले उपाय को, आविष्कार को, ईजाद कर डाला, जो कि बड़ा ही मनमोहक है—हृदयहारी है, जैसे—

रावरे-पाँइन ओट लसै, पग गूजरि बार महावर ढारे ;
सारी असावरी की झलकै, छलकै छबि घाँघरे घूम घुमारे ।
आओजू आओ ! दुराओ न मोहू सौं, "देवजू" चंद दुरै न अँध्यारे ;
देखौ हो ! कौन सी छैल छिपाई, तिरीछैं हँसै जो पीछैं तिहारे ।

छल-बलिया ! आप द्वारा, नित्य नई प्रणालिका से प्रयुक्त उच्छृङ्खल अपराध को हरदम झूठा बनने का, कैसा कुतूहल-पूर्ण जवाब है, कैसा शोखी-भरा सापराधी प्रमाणित करने का—अन्य स्त्री संभोगशाली उद्घोषित करने का कैसा युक्ति-युक्त दिल-लुभाने वाला प्रहसन है ।

हर एक क़दम तेरे, कूँचे में नया आलम है ;
कहाँ तक मैं अब चलूँगा, चला नहीं जाता।

—अज़ीज़

मन-मोहन ! आपके मन—चढ़ी ये महिलाएँ, कभी-कभी तो ऐसा मनोमुग्धकारी मींठा मज़ाक मौजू करती हैं—कुछ अजब चुलबुली शरारत-भरी आवाज़ेकशी कसती हैं, कि जिसे सुनकर दिल तड़प जाता है, उसके मनमोहक मौज के मज़े लूटते-लूटते मन सौ जान से फ़िदा हो जाता है। अवश्य भूल जाता है। देखिये न, जैसे कि—

भोरहीं न्योंत गई ही तुम्हें, वह गोकुल-गाँव की ग्वालिन गोरी ;
आधिक राति लौं "बैंनी-प्रवीन" कहा ढिग राखि करी बरजोरी।
आबै हँसी हमैं देखत लाल ! सुभाल मैं दीन्हौं महावर घोरी ;
एते बड़े ब्रज-मंडल मैं, न मिली कहूँ माँगैंहु रंचक रोरी।

वाह·····कैसी कमनीय और कैसी मधुर दिल्लगी है। स्नेह भरी कितनी सुन्दर फटकार है वाह, हाँ तो लालन ! बतलाओ ! अरे बतलाओ न ! "वह गोकुल-गाँव की ग्वालिन-गोरी" निमन्त्रण तो सबेरे ही दे गयी थी, पर "आधिक राति लौं" ढिग राख कर—पास रख कर, उसने यह क्या पुर-मज़ाक मशखरी कर डाली, यह क्या शरूर से सराबोर सरारत समुपस्थित कर दी कि—"न मिली कहुँ माँगैंहुं रंचक रोरी" के विपुल प्रयास से विथकित होकर "सुभाल में दीन्हों महावर घोरी" अर्थात् "एते बड़े ब्रज-मंडल में" "रंचक-रोली" के न मिलने पर भाल में महावर घोल कर लगा दिया ? रोली के रुचिर आसन को महावर से मुकुलित कर दिया ! पाणिनी जी की—

"स्थानान्तरऽनल्विधौ"

—सरस-सूक्ति का पुनीत प्रताप परखा दिया ? जिसे देखकर लालन ! मुझे बेहद हँसी आ रही है,—मेरी हँसी को भी हँसी आ रही है ।

रुखे-रंगी के जलवे कब, निकल सकते हैं सीने से ,
यह वह मौजें नहीं हैं, जो जुदा हो जाँय साहिले से ।

—जिगर

श्रीपति ! ये आपके सरस स्नेह की चिकनाई के दिव्य दाग हैं, प्रेम-धुलि-धूसरित धब्बे हैं, न कि व्यंग बाण-वर्षा ! अतः बुरा न मानना । प्यारे ! ये छूटने के नहीं । बकौल—"नवनीतजी के हमने लाखों कोशिश की, अनेक यत्नों की खाक छानी, पर हाय न छूटे ! न छूटे ? जैसे—

सुरस भिजोइ, कुल-काँनि-रेह-खार दै कैं ,
आतप-लगन-जोग करि कैं सफाई कौ ;
"नवनीत"प्यारे ! अपवाद-देगचा मैं भरि ,
बिरहागि-भट्टी पै चढ़ाइ सरसाई कौ ।
आसा-सिल छाँटि, सुख-साबुन किनारैं धोइ ,
करमन की कुन्दी, काम-कलप बुराई कौ ;
ढूंढत उपाइ हाइ मन-कपरा मैं लग्यौ,—
छूटत न दाग यह सनेह-चिकनाई कौ ।

एक और—

कहुँ उमड़े-घुमड़े गाजत हौ पिय !
कहुँ बरसत, कहुँ उघरि जात ;
कहुँ चमकि—चमकि चपला ज्यौं चमकति ,
एकु ठौर त्यौं नहिं ठहरात ।
स्याम-घन-केसब लच्छन तुम पै स्याम हौ नींके—
जानति मेह—नेह आडंबर प्रथा प्रात ;

"मुरारिदास" प्रभु तिहारे बाम चरन पूंजिऐ ,
को पतियाइ कहु किन की बात ।
— राग-प्रदीप

चतुर चूड़ामणि ! महाभारत में बेचारे भोले-भाले अर्जुन के आगे, ज्ञान की गठड़ी खोलते हुए बड़े-बड़े बाहु उठाकर नाहक बेतुकी-डींग हाँकी थी कि—

यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ;
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृज्याम्यहम् ।
—गीता अ. ४।७

अर्थात् हे भारत ! जब-जब धर्म की ग्लानि होती है, अवज्ञा होती है, अथवा अधर्म की अधिकता बढ़ती है, तब-तब मैं स्वयं जन्म लिया करता हूँ, अवतार धारण किया करता हूँ ।

भैया ! आपने अपनी उक्त प्रतिज्ञा को एक-बार और दुहराया था, पुनः कुछ ऐसी ही प्रतिज्ञा में आवद्ध होने की पुकार मचायी थी। जैसे कि—

ब्रज तजि अनत न जाइ हौं, यही है मेरैं टेकु ,
भूतल-भार उतारि हौं, धरिहौं रूप अनेकु ।*
—कोई कवि

* श्रीसूर भी कुछ ऐसा ही फर्माते हैं । यथा—

ब्रज-बासिन सौं कह्यौ सबन तें ब्रज-हित मेरैं ,
तुम सौं मैं नहिं दूर, रहत हौं, सबहिन के नेरैं ।
भजइ मोहि जो कोइ, भजों मैं निसि दिन तिनकौं भाई ,
मुकुर माँहि ज्यौं रूप आपुनौ, आपुन सम दरसाई ।
यह कहि कैं सम देति सकल जन, नैंन रहे जल छाई ,
"सूर-स्याम" कौ प्रैंम कछू अब, मोपै कह्यौ न जाई ।

—कैसा व्रज? जिसे कि रसिक शिरोमणि श्री सत्यनारायणजी रस से पूर्ण कमण्डल की उपमा से अलंकृत कर, अपनी साहित्य-रसज्ञता का पूर्ण परिचय दे गये हैं। जैसे कि—

भुवन बिदित यह जदपि चारु भारत-भुवि पावन ;
पै रस-पूर्न कमण्डल, ब्रजमंडल, मन-भावन।

—और आप, जिसकी हृदय-हर्षा देने वाली पावन याद कर-कर के उद्धव के सन्मुख घंटों रोया करते थे—व्रज-बिछोह की अकथ-कथा कह-कह कर कलेजे की कसक मिटाया करते थे; जैसे—

ऊधौ! मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं,
बृन्दाबन, गोकुल-सुधि आवत, सघन तृनन की छाँहीं।
प्रात-समैं माता जसुमति औ नंद देखि सुख पावत,
माखन रोटी दह्यौ सजाएँ, अति हित संग खवावत।
गोपी, ग्वाल-बाल सँग खेलत, सब दिन हँसत सिरात,
"सूरदास" धनि-धनि ब्रजबासी, बरनन किए न जात।

सूर के उक्त भावनामय भाव पर स्वर्गीय रत्नाकरजी ने भी सरस-सूक्ति सृजी है। यथा—

गोकुल की गैल-गैल गैल-गैल ग्वालन की,
गोरस के काज लाज-बस कैं बहाइबौ ;
कहै "रतनाकर" रिझाइबौ नवेलिनि कौं—
गाइबौ, गबाइबौ औ नाँचबौ, नँचाइबौ।
कीबौ स्रमहार मनुहार कै बिबिध-बिधि,
मौंहिनी, मृदुल, मंजु बाँसुरी बजाइबौ ;
ऊधौ! सुख-संपति-समाज ब्रज-मंडल के,
भूलैं हूँ न भूलै, भूलै हमकौं भुलाइबौ।

—पर वाहरे सत्य-सिन्धु! मथुरा जाते समय, माता-पिता के

साथ गोकुल-ललनाओं को त्यागते उक्त प्रतिज्ञा का कुछ खयाल खयाल में आया था ! अरे आप तो उन भोली-भाली गोपिकाओं से चार दिन में लौट आने का वायदा करके गये थे न, आह ! उस समय उनकी दयनीय दशा का कुछ कारुणिक चित्र क्या कहा जाय ? देखो ! देखो ! यथा—

रहीं जहँ-तहँहीं सब ठाढ़ी",
हरि के चलत देखियतु ऐसी, मनौं चित्र-लिखि काढ़ी।
सूखे बदन, स्रवत नैंन तैं, जल-धारा उर बाढ़ी,
कंधनि बाँह-धरें चितवत द्रुम, मनहुँ बेलि दव दाढ़ी।
नीरस करि छाँड़ीं सुफलक-सुत, ज्यौं दूधहि बिनु साढ़ी,
"सूरदास" अक्रूर-कृपा तैं, सही बिपत तन गाढ़ी।

प्रियतम के प्रदेश जाते समय की दुखभरी गाथा पर, इन निठल्ले कवि कोविदों ने बड़े अनुमान अलंकृत किये हैं—आसमान के कुलावे मिलाये हैं, अस्तु दो—चार नमूने पेश किये जाते हैं। जैसे—

भोरे भएं मथुरा कौं चलैंगे, यौं बात चली हरि नंद-लला की;
बोलि सकी न सँकोचनु तैं, सुनि प री परी मुख-जोति तिया की।
हाथ लगाइ लिलाट सौं बैठी, यहै उपमा कवि सुन्दरता की;
देखै मनौं कर आयु के आखर, औरु रहे हैं कछू बचि बाकी।

❀ ❀ ❀

पीतम-गौंन सुन्यौं गजगौनि कौं भोजन, भौंन सबै बिसरौ है;
अंग परी तलबेली महा "कविराज" तहाँ भरि आयौ गरौ है।
नैंननि तैं धरि धार धर्‍यौ जल, अंजन सौं उर आइ परौ है;
चीरबे कौं तिय कौ हियरा, बिरहा-बढ़ई मनौं सूत धरौ है।

❀ ❀ ❀

पी चलिबे को चली चरचा, सुनि चंद-मुखी चितई दृग-कोरनु ;
पोरी परी तुरतै मुख पै, बिलखी अति व्याकुल नैंन-सकोरनु ।
को बरजै अलि ! कासौं कहै, मन झूलत नेह ज्यौं लाज-झकोरनु ;
मौंती से पोइ रही अँसुवानु, गिरे न फिरे बरुनीन के कोरनु ।

—और मैया की तो भैया ! उस समय की दशा कहते ही नहीं बनती, लिखते लेखनी थरथराती है; क्योंकि उस समय करुणा का अथाह समुद्र उमड़ा आता था । मैया, हर एक के मुँह की तरफ देख देखकर बार-बार कहती कि—

"है कोऊ ब्रज मैं हितु हमारौ, चलत गुपाले राखै"

❀

जसुदा बार बार यौं भाखै ;
है कोऊ ब्रज मैं हितू हमारौ, चलत गुपाले राखै ।
कहा काज मेरे छगन-मगन कौ, नृप मधुपुरी बुलायौ ,
सुफलक-सुत मेरे प्रान हनन कौं काल-रूप ह्वै आयौ ।
बरु ए गो-धन हरौ कंस सब, मोहि बंद लै मेलै ,
इतनौंई सुख, कमलनैंन मेरी-आँखिनु आगैं खेलै ।
वासर बदन बिलोकत जीऔं, निसि निज अंकम लाऊँ ,
तेहि बिछुरत जो जिऔं करम-बसु, तौ हँसि काहि बुलाऊँ ।
कमलनैंन-गुन कहि-कहि टेरत, अधर, बदन कुम्हलानी ,
"सूर" कहाँ लगि प्रगट जनाऊँ, दुखित नंद की रानी ।

—अस्तु; वाहरे निर्दई ! "प्रिय-बिछुरन को दुसह दुख" की दावाग्नि से भुलसी हुई ब्रज-ललनाओं के साथ, जिसे मैया-मैया कहते न अघाते थे, और जिसके भूरि भाग्य की प्रसंशा शुक आदि—

अहोभाग्यमहोभाग्यं नंदगोपव्रजौकसाम् ,
यन्मित्रं परमानंदं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ।

—श्रीमद्भागवते

—रूप ब्रह्म-वाक्य, विपुल विरुदावली से गा-गा कर कहते थे ! नारदादि भक्तवृन्द जिसके सौभाग्य मद को विकलता की दृष्टि से देखते हुए कहते थे कि—

किं ब्रूमस्त्वं यशोदे कति-कति सुकृतक्षेत्रवृन्दानि पूर्वम्—
गत्वा कीदृग्विधानैः कति-कति सुकृतान्यर्जितानिऽत्ययैव ;
नो शक्रो न स्वयम्भूर्न च मदनरिपुर्यस्य लेभे प्रसादं ,
तत्पूर्णब्रह्म भूमौ विलुठति विलपन्क्रोड़मारोढु कामः ।

—कस्यचित्कवेः

यशोदे ! तेरा सौभाग्य अतीव महान् है । क्या कहें, ओह ! कुछ कहा नहीं जाता कि तूने पिछले जन्मों में न जाने, तीर्थों में जा-जा कर कौन-कौन से और कितने-कितने महान् पुण्य संचय नहीं किये, कि जिसकी बदौलत आज विश्वपति, विश्वसृष्टा, विश्व-रूप, विश्वाधार भगवान जिसकी कृपा को इन्द्रादिक देवता भी प्राप्त नहीं कर सके, वही पूर्ण ब्रह्म आज तेरी गोद में चढ़ने को, उसमें खेलने को, जमीन पर पड़ा मचल-मचल कर लोट रहा है, अस्तु; धन्य है, धन्य है !

और भैया ! जिनके प्रेम-प्रणय में आप भी आवद्ध होकर अपने को धन्य समझते हुए उनसे उऋण होने की करवद्ध विशद प्रार्थना प्रमुदित करते हुए कहते थे कि—

..............................हौं रिनी तिहारौं ,
अपने-मन तैं दूरि करौ, किन दोष हमारौ ।
कोटि-कलप लगि तुम प्रति, प्रति उपकार करौं जो ,
हे मनहरनी ! तरुनी ! उरनी नाहिं तबहुँ तो ।
सकल बिस्व अपबस करि, मो माया सोहत है ,
प्रैममयी तुम्हरी माया, सो मोहि मोहत है ।

तुमजु करी सो कोउ न करै, सुनि नवलकिसोरी,
लोक, बेद की सुदृढ़-सृंखला तृन सम तोरी।
—नंददास

श्रीमद्‌भागवतकार श्री शुक भी कुछ ऐसा ही नंददासजी की हाँ-में-हाँ मिलाते हुए फर्माते है कि—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां—
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापिवः,
या मा भजन्दुर्जरगेहश्रृङ्खलाः
संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना।

इसी भव्य भाव पर दो कवित्त और याद आ गये हैं। यथा—

कामरी, लकुट मोहि भूलत न एकौ पल,
घुँघची बिसारौ ना, जो लाल-उर धारे हैं;
जा दिन तैं छाकैं छूटि गई ग्वालिन की,
ता दिन तैं भोजन न पावत सकारे हैं।
भनैं "जदुबंस" जौ पै नेह नंद-बंस जू कौ,
बंसी ना बिसारैं जानैं बंस बिस्तारे हैं;
ऊधौ ! ब्रज जइयो, मेरी लइयो चौगान-गैंद,
मैया सौं कहियो हम रिनिया तिहारे हैं।
कौंन बिधि पावैं यह कर्म बलवान उदै,
छाछ छछिया कौ, ब्रज-भक्तन कौ भात हैं;
मुक्ति सौ पदारथ जो दै चुके बकी कौं अब-
दैंइ जननी कौं कहा यातैं पछितात हैं।
बिधि जो बनाई याहि कौंन बिधि मैंटि सकैं,
ऐसैं कहि सोचत रहत दिन-रात हैं;
ऊधौ ! ब्रज जइयो, मेरी कहियो समझाइ मैया !
जा पै रिन बाढै सो बिदेस भगि जात हैं।

—अथवा जिनकी स्तुति, श्रीशुक ने इस प्रकार गायी है—बार-बार नमन करते हुए कहा है कि—

नेमं विरिञ्चि न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया ,
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत्प्राप विमुक्तिदात् ।

अर्थात् ब्रह्मा, शिव और सदैव हृदय में रहनेवाली पल भर भी न बिछुड़ने वाली बाला लक्ष्मी भी, जिसके देवदुर्लभ प्रसाद को न पा सकी, वह सब कुछ न्यौछावर कर ग्वाल-बालाओं ने पा लिया, और सहज पा लिया। अस्तु उन लोक-अभिवंदनीय अबलाओं से—

"......हित एकुहि बार, गवार तू तोरत बार न लाई"

—मतिराम

—हित तोड़ते जरा भी "वार" न लगाई, क्षणभर की भी "देर" न की—इस नाजुक नेह को नसाते पलभर भी न डरें, जरा भी न हिचकिचाये।

नहीं शिकवा मुझे कुछ बेवफाई का तेरा हरगिज ,
गिला तब हो, अगर तूने किसी से भी निबाही हो।

—मीर दर्द

अथवा—

तब तौ तुम दूरहि तैं मुसुकाइ, बचाइ कैं और को दीठि हँसे ,
दरसाइ मनोज की मूरत ऐसी, रचाइ कैं नैननि मैं सरसे ।
अब तौ उर माँहि बसाइ कै मारत, ए जू बिसासी कहाँ धौं बसे ,
कछु नेह-निबाहबौ न जानत हे, तौ सनेह की धार मैं काहे धँसे ।

—सुजान सागर

अस्तु क्यों साहब ! "आनंदघनजी" क्या पूँछ रहे हैं ? सुनकर जवाब दीजिये न, गाँठ खोल कर बतलाइये न—

"कछु नेह निबाहबौ न जानत हे तौ सनेह की धार मैं काहे धँसे।"

—न बतलाओ सरकार! यहाँ हम सब जानते हैं, आप का राज कुछ छिपा नहीं है! सब पर प्रगट है कि—

खुटाई पोरहि पोर भरी,
हमहिं छाँड़ि मधुबन मैं बैठे, बरी कूर कूबरी।
स्वारथ-लोभी मुख देखे की, हमसौं प्रीति करी,
"हरीचंद" दूजेन के ह्वै कैं हा-हा हम निंदरी।

—हाँ तो भगवन्! गोपियों से जो चार-दिन में लौट आने की प्रतिज्ञा कर गये थे, वह भी खूब निबाही! पीछे से उक्त प्रतिज्ञारूपी मूलधन का ब्याज चुकाने के लिये अथवा उगाहने के लिये सूधा सा "ऊधो" भेज दिया। जैसे कि—

बाढ्यौ ब्रज पै जो ऋनु मधुपुर-बासिन कौ,
तासौं ना उपाइ काहू भाइ उमहन कौं;
कहै "रतनाकर" बिचारत हुतीं हीं हम—
कोऊ सुभ जुक्ति तासौं मुक्ति ह्वै रहन कौं।
कीन्यौ उपकार दौरि, दोउन अपार ऊधौ!
सोई भूरि भार सौं उबरता लहन कौं;
लै गयौ अक्रूर-क्रूर तब सुख-मूर कान्ह,
आज तुम आए प्रान-ब्याज उगहन कौं।

अस्तु—

ऊधौ बेगि ब्रज कौं जाहु;
सुति-सँदेस सुनाइ मैटौ, बल्लभिन कौ दाहु।
काम-पावक तूल मैं तन, बिरह-स्वाँस समीर;
भसम नाहिंन हौंनु पावत, लोचनन के नीर।
आजु लौं इहि भाँति ह्वै हैं: कछुक कुसल सरीर;
इते पै बिनु समाधानैं, क्यौं धरैं तिय...धीर।

कहौं कहा बनाइ तुम सौं, सखा साधु प्रबीन ;
"सूर" सुमति बिचरिऐ क्यौं जिऐं जल-बिनु मीन ।

अथवा—

ऊधौ ! ब्रज कौं गमन करौ ;
हमहिं बिना बिरहिनीं गोपिका, तिनके दुखहिं हरौ ।
जोग, ग्यान परबोधि सबन कौं, ज्यौं सुख पावैं नारि ;
पूरन ब्रह्म अलख परचे करि, डारैं मोहि बिसारि ।
सखा प्रबीन हमारे तुम हौ, तुमतैं और न अंत ;
"सूर" स्याम कारन यह पठवत, ह्वै आवैंगे संत ।

उक्त भाव पर हमारे स्वर्गीय कवि "नवनीतजी" कहते हैं कि—

ऊधौ ! तू सखा है सब जानत हिए की बात,
कहत कछू पै बिचार उर धरियो ;
"नवनीत" प्यारे ग्वाल-बाल ब्रज-बारेन कौं,
ग्यान दरसाइ कैं सबै ही दुख हरियो ।
बाबा नंदराइ कौं सुजान ! समुझाइ जाइ,
मेरे कहैं माइ जसुदा के पाँइ परियो ;
निराकार ब्रह्म की उपासना दृढ़ाइ बेगि—
गोपिन कौं जोग दै बियोग दूरि करियौ ।

—गोपी-प्रेम-प्रियूष-प्रवाह

उद्धव को मथुरा से ब्रज भेजते समय आपकी, दयनीय दशा का वर्णन स्वर्गीय बाबू जगन्नाथदासजी (रत्नाकर) ने भी बड़ा विदग्धता पूर्ण किया है । जैसे कि—

देखि दूरि ही तैं दौरि पौरि लगि भैंटि ल्याइ,
आसन दै साँसनि समैटि सकुचानि तैं ;
कहै "रतनाकर" गुनन यौं गुबिंद लागे—
जौ लौं कछु भूले से, भ्रम से अकुलानि तैं ।

कहा कहैं ऊधौ सौं, कहैं हूँ तौ कहाँ लौं कहैं,
कैसैं कहैं, कहैं पुनि कौंन सी उठानि तैं ;
तौ लौं अधिकाई तैं ऊमँगि कंठ आइ भींचि,
नीर ह्वै बहन लागीं बातैं अँखियाँनि तैं ।
बिरह-बिथा की कथा, अकथ अथाह-महा,
कहत बनैं न जो प्रबीनि सुकबीनि सौं ;
कहै 'रतनाकर" बुझावन लगे ज्यौं कान्ह !
ऊधौ कौं कहन-हेत ब्रज-जुबतीनि सौं ।
गहबरि आयौ गरौ भभरि अचानक त्यौं--
प्रेंम पर्‍यौ चपल चुचाइ पुतरीनि सौं ;
नैंकु कही बैंननि, अनेक कही नैंननि सौं--
रही-सही सोऊ कीन्हि दीन्हीं हिचकीनि सौं ।

अस्तु; वहाँ अर्थात् ब्रज में बेचारे सीधे-सादे और आपकी वाक्चतुरता से चिते यानी भरमाये हुए उद्धव की ब्रज-भामिनियों से कैसी भिड़न्त हुई, उसकी तो बात ही निराली है, मजा ही निराला है—आलम ही अनोखा है ।

आलम है अनोखा, बातों का, दुनियाँ है निराली नजरों की ।
—कोई शायर

—अस्तु; उद्धव को प्रियतम की पत्रिका लिये आया सुनकर जो हृदयहारी हड़बड़ी गोपियों में पड़ी, उसका सुन्दर सिंहावलोकन "रत्नाकरजी" ने अपनी सरस भाषा में बड़ा ही हृदयग्राही किया है । यथा—

भेजे मनभावन के ऊधव के आवन की,
सुधि ब्रज-गाँवनि मैं पावन जबै लगीं ;
कहै "रतनाकर" गुवालिनि की झौर-झौर--
दौर-दौर नंद-पौर आवन तबै लगीं ।

उझकि-उझकि पद-कंजनि के पंजनि पै,
पेखि-पेखि पाती, छाती-छोहनि सबै लगीं ;
हमकौं लिख्यौ है कहा, हमकौं लिख्यौ है कहा,
हमकौं लिख्यौ कहा कहन सबै लगीं।

❀

देखि-देखि आतुरी बिकल ब्रज-बारिनि की,
ऊधव की चातुरी सकल बहि जाति हैं ;
कहै "रतनाकर" कुसल कहि पूँछि रहे--
अपर-सँदेस की न बातैं कहि जात हैं।
मौन-रसना ह्वै जोग जदपि जनायौ सबै,
तदपि निरास-बासना न गहि जाति हैं ;
साहस कै कछुक उँमाहि पूँछिवे कौं ठाहि,
चाहि उत गोपिका कराहि रहि जाति हैं।

—हाँ तो, जब आपके उस भोले-भाले और भरमाये हुए प्रिय सखा ने, उन बचन विदग्धा बालाओं के सन्मुख दूसरे की पूँजी से परिस्कृत अपनी ज्ञान की गठड़ी खोली; जैसे कि—

वे तुम तैं नहिं दूरि, ग्यान की आँखिन देखौ ;
अखिल बिस्व-भरि-पूरि रूप सब उनहिं बिसेखौ।
लोह, दारु, पाखान मैं, जल, थल, मही, अकास ;
सचर, अचर बरतत सबै, जोति-ब्रह्म-परकास। ❀
—सुनौ ब्रज-नागरी !

❀ रत्नाकर जी भी ऐसाही कहते हैं—

पंच-तत्त्व मै जो सच्चिदानँद की सत्ता सो तौ,
हम, तुम उन मैं समान ही समोई है।
कहै "रतनाकर" बिभूति पंच-भूत हू की,
एकु ही सी सकल प्रभूतन मैं पोई है।

इस पर आपकी प्रियायें उत्तर देती हैं कि—

कौंन ब्रम्ह, को जोति, ग्यान कासौं कहैं ऊधौ ! ;
हमरे सुन्दर स्याम, प्रेंम कौ मारग सूधौ ।
नैंन, बैंन, स्रुति, नासिका, मौंहन-रूप दिखाइ ;
सुधि, बुधि सब मुरली हरी, प्रेंम-ठगोरी लाइ ।
— —सखा ! सुनि स्याम के ।

उद्धव कहते हैं कि—

यह सब सगुन उपाधि, रूप निरगुन है उनकौ ;
निराकार, निरलेप, लगत नहिं तीनौं गुन कौ ।
हाथ, पाँइ नहिं नासिका, नैंन, बैंन, नहिं कान ,
अच्युत ज्योति-प्रकास हीं, सकल बिस्व के प्रान ।
——सुनौं ब्रजनागरी !

उद्धव की इस अद्भुत अत्युक्ति पर, गोपियाँ ठठाकर हँस पड़ी और बोली कि—"बलिहारी लला इन बोलन की" वाह ! क्या कहने हैं आपकी वाक्‌पटुता के ! अरे भले आदमी—

जो मुख नाहिंन हुतो, कहौ किन माँखन खायौ ,
पाँइन-बिनु गो-संग, कहौ को बन-बन धायौ ।

और—

आँखिन मैं अंजन दयौ, गोबरधन लयौ हाथ ,
नंद-जसोदा पूत है, कुँवर कान्ह ब्रज-नाथ ।
सखा सुनि स्याम के ।

—नंददास

माया के प्रपंच ही सौं भाषत प्रभेद सबै ,
काँच-फलकनि ज्यौं अनेक एक सोई है ,
देखौ भ्रम-पटल-उघारि ग्यान-आँखिनि सौं ,
कान्ह सब ही मैं, कान्ह ही मैं सब कोई है ।

उक्त भाव पर "ग्वाल कवि" की कमनीय कल्पना भी देखिये—

जैसे कान्ह, तैसे ही उद्धव सुजान आए,
हैं तौ महमान पै प्रानन निकारे लेति ;
लाख बेर अंजन अँजायौ इन हाथन सौं,
तिन कौं निरंजन कहि झूठ उर धारे लेति ।
"ग्वाल कवि" हाल ही तमालन मैं, बालन मैं,
ख्यालन मैं खेले हैं किलोल किलकारे लेति ।

लेकिन हाँ—

यहाँ न परचेरी, परचेरी-संग परचेरी !
जोग-परचेरी भेजि, परचे हमारे लेति ।

❀

हम अपने कर सौं दियौ, ऊधौ ! अंजन जोई,
दासी सुख-रासी करी, भयौ निरंजन सोइ ।

—नवनीत

अथवा—

कर-बिनु कैसैं गाय दुहि है हमारी वह,
पद-बिनु कैसैं नाँचि, थिरिक रिझाइ है ;
कहै "रतनाकर" बदन-बिनु कैसैं चाखि—
माँखन, बजाइ-बैंनु गो-धन गवाइ है ।
देखि, सुनि कैसैं दृग-स्रवन बिना हीं हाइ,
भोरे ब्रज-बासिनि की बिपत बराइ है ;
रावरौ अनूप कोऊ अलख अरूप ब्रह्म,
ऊधौ ! कहौ धौं कौंन हमरे काम आइ है ।

—और भैया ! प्रत्यक्ष में अनुमान की भी तो जरूरत नहीं होती है—"हाथ कंगन को आरसी" की क्या दरकार अस्तु—

"लखि ब्रज-भूप-रूप अलख, अरूप ब्रह्म,
हम न कहैंगीं तुम लाख कहिबौ करौ।

❀

हम परतच्छ मैं प्रमान अनुमानैं नाँहिं,
तुम भ्रम-भौर लौं भलैंहीं बहिबौ करौ;
कहै "रतनाकर" गुबिंद-ध्यान धारैं हम,
तुम मन मानौं ससा-सिंग गहिबौ करौ।
देखति सो मानति हैं, सूधौ न्याव जानति हैं,
ऊधौ! तुम देखि हू अदेखि रहिबौ करौ;
लखि ब्रज-भूप-रूप अलख, अरूप ब्रह्म,
हम न कहैंगी तुम लाख कहिबौ करौ।

भैया! वह आपका धीर उद्धव, जोग-जल्पना से जटित अपनी उद्दाम आकांक्षा के आगे जब जोग से भी परे प्रेम-योग की विशद बात न समझ, "नंददासजी" के शब्दों में पुनः कहने लगा कि—

जाहि कहौ तुम कान्ह! ताहि कोऊ पिता न माता;
अखिल अंड ब्रह्मंड, बिस्व उनही मैं जाता।
लीला कौ अवतार लै, धरि आए तन स्याम;
जोग-जुगति ही पाइऐ, पर-ब्रह्म-पुर धाम।
सुनौं ब्रजनागिरी!

—तब तो वे आपके गुनन-गरूली गोप-बालायें, कुछ मधुरी सी फटकार बतलाते हुए प्रेम-पीयूष सा निचोड़ती हुईं कहने लगीं कि—ऊधो!

ताहि बतावौ जोग, जोग ऊधौ! जहँ पावौ;
प्रेम-सहित हम पास, नंद-नंदन-गुन गावौ।

नैंन, बैंन, मन, प्रान मैं मौंहन-गुन रह्यौ पूरि ;
प्रेंम-पीयूखै छाड़िकैं, कौंन समेटै धूरि ।
सखा ! सुनि स्याम के ।

अथवा—

चुप रहौ ऊधौ ! सूधौ पथ-मथुरा कौ गहौ,
कहौ ना कहानी जो बिबिध कहि आए हौ ;
कहै "रतनाकर" न बूझि हैं बुझाएँ हम ,
करत उपाइ बृथाँ भारी भरमाए हौ ।
सरल सुभाइ मृदु जानि परौ ऊपर तैं ,
पर उर घाइ करि लौंन सौ लगाए हौ ;
रावरी सुधाई मैं भरी कुटिलाई कूटि ,
बात की मिठाई मैं लुनाई लाइ ल्याए हौ ।

वाह साहब ! बातों की मिठाई में खूब नमक मिलाकर लाये ? अरे ऊपर तो—बाहर तो ऐसे सूधे, ऐसे भले, निहायत कमनीय—एकदम कोमल, और अन्दर इतना जहर, अथवा भीतर कूट-कूटकर भरी इतनी कुटलाई ? कुछ ठिकाना है ! वाह, बड़े सुन्दर रहे !

सखी री ! मथुरा मैं द्वै हंस ;
वे अक्रूर, ए उद्धव सजनी ! जानत नीकैं गंस ।
ए दोऊ नीर-छीर निरबारत, इनहिं बँधायौ कंस ;
इनके कुल ऐसी चलि आई, सदाँ उजागर बंस ।

—सूरदास

—लेकिन यह तो बतलाओ नीर-क्षीर-विवेकी ! अथवा "विष-रस-भरा कनक-घट जैसे !" कि—

कान्ह-दूत कैधौं ब्रह्म-दूत ह्वै पधारे आप,
धारि प्रन-फेरन कौं मति ब्रजबारी की ;

कहै "रतनाकर" प्रतीति-रीति जानत ना--
ठानत अनीति आँनि नीत लै अनारी की।

अच्छा-अच्छा—

मान्यौ हम, कान्ह-ब्रह्म एकु ही कह्यौ जो तुम,
तौहू हमैं भावति न भावना अन्यारी की;

क्योंकि—

जैहै बनि बिगरि न बारिधता बारिधि की,
बूंदता बिलैहै बूंद बिबस बिचारी की।

अथवा—

जग सपनौं सौ सब परत दिखाई तुम्हें,
तातैं तुम ऊधौ! हमैं सोवत लखात हौ;
कहै "रतनाकर" सुनैं को बात सोवत की,
जोई मुख आवत सो बिबस बयात हौ।
सोवत मैं जागत लखत अपने कौं जिमि--
त्यौंहीं तुम आपु ही सुज्ञानी समुझात हौ;
जोग-जोग कबहूँ न जान्यौं कहा जोहि जकौ,
ब्रह्म-ब्रह्म कबहूँ बहकि बररात हौ।

अस्तु—

ऊधौ! यह ज्ञान कौ बखान सब बाद हमैं,
सूधौ बाद छाँड़ि, बकबादहिं बढ़ावै को;
कहै "रतनाकर" बिलाइ ब्रह्म-काइ माँहिं,
आपुन सौं आपुनपौ आपुनौं नसावै कौ।
काहू तौ जनम मैं मिलैंगी स्याम-सुंदर सौं,
याहू आस प्रानायाम साँस मैं उड़ावै को;
परिकैं तिहारी ज्योति-ज्वाला की जगाजग मैं,
फेरि जग जाइबे की जुगति जरावै को।

अरे बावले !—

विधि कौ सिर पंचम खंड भयौ, मुनि-मौर नचे कपि कौ मुख लेते ;
भीलनी सौं महादेव भिरे, सुर-राज कैं चिन्ह भए तन केते।
उद्धव ! रावरे नेक सखा, उन देखे हैं ढोक गवाँरन देते ;
एकु ही भोग के आसन पै, झकमारत जोग के आसन जेते।

—गोपी-प्रेम-पीयूष-प्रवाह

अथवा—

आए हौ सिखावन कौं जोग मथुरा तैं तौ पै—
ऊधौ ! ए बियोग के बचन बतरावौ ना ;
कहै "रतनाकर" दया करि दरस दीन्यौं,
दुख-दरिबे कौं तौ पै अधिक बढ़ावौ ना।

क्योंकि—

टूक-टूक ह्वै है मन-मुकर हमारौ हाइ,
चूकि हू कठोर-बैन-पाहन चलावौ ना ;
इक मनमौंहन तौ बसिकैं उजारीं हम,

इसलिये—

हिय मैं अनेक मन-मौंहन बसावौ ना।

प्रेम-साम्राज्य में, वियोगाग्नि-विभूषित बयार बहने पर भी कितनी शीतलता प्रतीत होती है, निराशा के सागर की उत्ताल-तरंगें अविरल गति से लय निमित्त उठते देखते भी प्रिय-मिलन की आशा—वह चाहे इस जन्म में वा दूसरे जन्म में पूर्ण हो, के सहारे जीवन व्यतीत करना, और स्नेह-सलिल से अभिषिञ्चित स्वजनों की सिखावन को दूर से ही नमस्कार करना, प्रेमिकों के सहज स्वभाव का परिचायक होता है। क्योंकि—

अति सूधौ सनेह कौ मारग है, जहँ नैंकु सयानप बाँक नहीं ,
तहँ साँचे चलैं तजि आपुनपौं, झिझकैं कपटी, जे निसाँक नहीं।

प्रिय उद्धव ! अब जरा हमारे योग की भी बानगी देख लो ! जप, तप, से भी अति उत्तापक, विरह-ताप का मजा भी लूट लो ! श्याम-सखे !

पलक गेरुआ गूदरी, अँसुवन-माल सुखैंन ,
सदाँ जगैं जल बूड़िकैं, पिय बिनु जोगी नैंन । ❀

कुछ ऐसा ही भाव कवि-वर "देवजी" ने भी कहा है । यथा—

बरुनी बघंबर मैं गूदरी पलक दोऊ,
कोए राते बसन भिगौंहे-भेष रखियाँ ;
बूड़ी जल ही मैं दिन जामिनी जगी हैं भौं हैं-
धूम सिर छायौ बिरहानल बिलखियाँ ।
अँसुवा-फटिक-माल, लाल-डोरे-सेल्ही पेन्हि,
भई हैं अकेली तजि चेली संग सखियाँ ;
दीजिऐ दरस 'देब" कीजिऐ सँजोगिन वे-
जोगिनि बनि बैठीं हैं बियोगिनि की अँखियाँ ।

और हमारा योग-यज्ञ—

घृत-अँसुवा, नैंना स्रुवा, रोचन-रिचा बिभाग ;
तन-आहुत, बिरहागि मैं, करहिं कामिनी याग ।

❀ ऊधौ ! करि रहीं हम जोग ;
कहा एतौ बाद ठानैं, देखि गोपी भोग ।
सीस सेली, केस मुद्रा, कनक बीरी बीर ;
बिरह-भसम चढ़ाइ बैठीं, सहज कंथा चीर ।
हृदै सिंगी टेर मुरली, नैंन-खप्पर हाथ ;
चहँत हरि की दरस-भिच्छा, दैंइ दीनानाथ ।
जोग की गति जुगति हम पै, "सूर" देखौ जोइ ;
कहत हमतें करन जोग, सँजोग कैसौ होइ ।

अथवा—

सरस सुधारि कर बेदी प्रेंम-बेदना की,
मदन प्रधान पूजा-पाठ-ध्यान धरि हैं;
"नवनीति" मंडप सुहायौ अपवाद ही कौ,
रोदन-रिचान के प्रयोगन उचरि हैं।
पूरित बियोग-आँचि हृदय-कमल के कुंड,
एकु तंत्र गोपिन के जूथ अनुसरि हैं;
सकल सँयोग-सुचि नैंन के स्रुवान भरि—
घृत-अँसुवान बैठि प्रान-हौंम करि हैं।

अस्तु उद्धव !—

जोग ठगोरी ब्रज न बिकैहै;
यह ब्यौहार तिहारौ उधौ ! ऐसैंई फिरि जैहै।
जापै लै आए हौ मधुकर ! ताके उर न समैहै;
दाखि छाँड़ि कैं कटुक निबौरी, को अपने मुख खैहै।
मुरी के पातन के बदलैं, को मुक्ताफल दै है;
"सूरदास" प्रभु गुनहिं छाँड़िकैं, को निरगुन निरवैहै।

—हाँ तो नटखट ! उद्धव को "ब्याज चुकाने भेज दिया।" अरे, तो क्या आपकी यही सचाई थी ? क्या यही भूरि-भूरि प्रसंशनीय प्रतिज्ञा का परिचय था ? "कुटिल विष के भरे !" क्या आप इतना भी न जानते थे कि—

जननी, जन्म-भूमि सुनियतु सर्गहु तैं प्यारी; ❀
सो तजि सबरौ मोह, साँवरे ! तुमनि बिसारी।
का तुम्हरी गति, मति भई, जो ऐसौ बरताव;
किधौं नीति बदली नई, ताकौ पर्यौ प्रभाव।

कुटिल बिषकौ भर्यौ।—सत्यनारायण

❀ जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।

उफ़ लालन ! सारी लाज गँवा दी ? कमनीय कुलकानि त्याग दी ? वाहरे सत्य-प्रतिज्ञ ! चले जाना था तो चले जाते, लेकिन एक बात तो सुन जाते ! हमारी एक प्रार्थना पर तो टुक ध्यान धरते जाते । जैसे कि—

वो मुजरिमे-उल्फत है, यह मुजरिमे-दीदार,
दिल लेके चले हो तो लिये जाओ नज़र भी ।

—जिगर

दया करो ! दया करो ! दीनबन्धु दया करो ! और इन "मुँह-जोर तुरंग" तुल्य नयनों को कृपाकर अपने साथ ही लेते जाओ । अरे, अन्याय न करो ! क्योंकि—"दिल मुजरिमे-उल्फ़त है" और ये चश्में "मुजरिमे-दीदार" । इसलिए प्यारे ! इन्हें भी साथ लेते जाओ । हम तो "सूरदास" ही भले हैं ; क्योंकि—

बिछुरें पिय के जग सून्यौ भयौ, अब का करिऐ औ पेखिऐ का ;
सुख छाँड़ि कैं संगम कौ तुम्हरे, इन तुच्छन कौं अबलेखिऐ का ।
"हरिचंदजू" हीरन को ब्यबहार कै, काँचन कौं लै परेखिऐ का ;
जिन आँखिन मैं तुब रूप बस्यौ, उन आँखिन सौं अब देखिऐ का ।

—बात तो ठीक है ठाकुर ! बड़ी इनायत होगी; लेते जाइये न । अरे, मेहरबानी की हद हो जायगी ? ऐसान का आखीर हो जायगा ? अस्तु—

दिल लिया है, जान भी ले लो ;

क्योंकि—

हमसे बेदिल रहा नहीं जाता ।

—कोई शायर

भूल हो गई भैया ! भूल हो गयी ! अरे, श्रीमान् को सखा कहता ही कौन है ? उसकी तो पोल पहिले ही काफी खुल चुकी

है। अस्तु, नखरेबाज ! क्यों नाहक नटखटी करते हो, कह क्यों नहीं देते कि हम झूठे हैं ! कपटी हैं ! दग़ाबाज हैं ! क्योंकि—

नखरौ राह-राह कौ नीकौ ;
इत तौ प्रान जात हैं निसि दिन, तुम न लखौ दुख जी कौ।
आवहु बेगि नाथ, करुना करि, मति जु करौ मन फीकौ ;
"हरीचंद" इठिलानपने कौ, बिधि नैं दियौ तुव टीकौ।

यदुनाथ ! यह तो बतलाइये कि मथुरा से उद्धव को व्रज भेजने में कुछ खास "मसलहत" तो महसूस न थी ! कुछ गुप्त इच्छा तो इच्छित न थी ! क्योंकि आपकी कपटता का सहज ही पता नहीं चलता—चालाकी का सुराग कठिनता से ही मिलता है। लेकिन भैया ! आपके इस गुप्त "राज" पर, अंतर-गूढ़ गाथा पर यह "सूर" अंधा होकर भी प्रकाश डालता है, इस उलझन को कुछ-कुछ सुलझाता है। जैसे कि—

जदुपति, जानि उद्धव-रीति ;
जो प्रगट निज सखा कहियतु, करत भाव-अनीति।
बिरह-दुख जहँ नाहिं जाँमतु, नाँहि उपजतु प्रेम ;
रेख, रूप न बदन जाकैं, यहि धर्यौ वह नैम।
त्रिगुन तन करि लखत हमकौं, ब्रह्म मानत और ;
बिना गुनि क्यौं पुहुमि उधरै, यह करत मन डौरु।
बिरह-रस के मंत्र कहिऐ, क्यौं चलै संसार ;
कछु कहत हू एकु प्रगटत, अति भर्यौ हंकार।
प्रेम-भजन न नैंकु याकैं, जाइ क्यौं समुझाइ ;
"सूर" प्रभु मन इहै आँनी, व्रजहि दैंउँ पठाई।

अथवा—

इहै अद्वैत-दरसी रंग ;
सदाँ मिलि इक सँग बैठत, चलत, बोलत संग।

बात कहत न बनत यासौं, निठुर जोगी जंग ;
प्रेंम सुनत बिपरीति भाषत, होत है रस भंग।
सदाँ ब्रज कौ ध्यान मेरैं, रास, रंग, तरंग ;
"सूर" वह रस कहौं कासौं, मिल्यौ सखा भुरंग।

सत्य बात है! एकदम ठीक है! योगी को संयोग की कथा भुस का कूटना सा तो है ही, फिर हृदय की अकथ कथा किसके प्रति कही जाय ? सच है भैया! विपरीत बातों से रस-भंग हो ही जाता है—सारा सुरस नीरस हो जाता है। अन्धे के आगे रोना-सा होता है, अस्तु, काग और हंस का संयोग कौन ठीक कहेगा?—

हंस, काग कौ संग भयौ ;
कहँ गोकुल, कहँ गोप, गोपिका, बिधि यह संग दयौ।
जैसैं कंचन काच-संग, ज्यौं चंदन संग कुगंधि ;
जैसैं खरी कपूर एकु सम, यह भई ऐसी संधि।
जल-बिनु मीन रहत कहुँ न्यारे, इहि सो रीति चलावत ;
जब ब्रज की बातैं कछु कहियतु, तबहिं तबहिं उचटावत।
याकौं ग्यान थामि ब्रज पठिहौं, और न कछुक उपाव ;
सुनौं "सूर" ब्रज तुरत पठावहुँ, भलौ बन्यौ है दाव।

यदुपति ! "अन्धे को, सूझी तो बड़ी दूर की।" कहिये प्रभो! आपका यह मुँहलगा भक्त—सेवक कितनी दूर की कौड़ी लाया है, कितना औड़ा गोता लगाया है। धत्तेरे उद्धव की! अरे भले-आदमी! कहीं चन्दन के पास कुगंध रह सकती है? भैया! खलिया मिट्टी की कपूर के साथ संधि कैसी? अस्तु, नाथ! अब तो आपके मन की साध पूरी हो गयी!

"कपट करैं हूँ प्यारे! निपट भले लगौ"

❀

अंतर गठीले मुख ढीले-ढीले बोल बोलौ,
सुन्दर सुजान ! तऊ प्रानन खरे पगौ ;
साँचु कैसी मूरति होआँखिन मैं पौढ़े आई,
महा निरमोही मोहि मोह सौं मढे ठगौ ।
"आँनद के घन" उघरे पै छल छाइ लेति,
कटुता भरी रौंम-रौंम, रौंम-रौंम अमी अगौ ;
वाह प्रभु ! वारी, पति रही न तिहारी अब—
"कपट करैं हूँ प्यारे ! निपट भले लगौ ।

कुछ इसी भव्य भाव पर किसी उर्दू कवि ने क्या सुन्दर सूक्ति सूजी है। यथा—

जब इतनी बेवफ़ाई पर, उसे दिल प्यार करता है ;
तो या रब ! वह सितमगर बा-वफ़ा होता तो क्या होता ।

भगवन् ! आपके इस कमनीय कपट की पोल "सुमरेशजी" ने भी खोली है—इनने भी इस पर्दे-फ़ास में पैर फँसाया है। यथा—

मेरौ सखा, बरु मेरौ कहाइ कैं, भाँखत बे-गुन ब्रह्म बताइऐ ;
प्रैंम कौ पथ कहै "सुमरेस" तौ ग्यान के बान तैं ताहि उड़ाइऐ ।
कारन ब्रह्म कौ माँनत मोहि, सु निरगुन सुद्ध सौं भिन्न बताइऐ ;
भेजु कैं भामतिन-भौंन भलैं, अब उद्धव प्रैंम कौ पंथ सिखाइऐ ।

क्योंकि—

सब अधिकारी हैं नहीं, पै यह प्रैंम-समाज ;
या तैं उद्धव भेजिऐ, एकु पंथ द्वै काज ।

—नवनीत

हाँ साहब ! इसके सब कोई अधिकारी नहीं होते ! इस पावन मार्ग के हर कोई पथिक नहीं हो सकते ! अरे, यह तो आप की

"कलित कृपा" का अणुमात्र सा दिग्दर्शन है, तनिक सा इशारा है, इसलिये खूब किया। "एक पंथ, दो काज" खूब बनाये। चट्टेबट्टे लड़ाकर अपना मतलब साधना—सच बात तो यह है कि आपको ही आता है; और किसी को भी नहीं। वाह! कायाकल्प करने का क्या सुन्दर नमूना प्रस्तुत कर दिया—धन्य हैं, धन्य! अस्तु; देखो-देखो भगवन्! वह देखो, आपका प्रिय सखा—"कालका जोगी, कलींदे का खप्पर" * लिये और गोपियों के प्रेम-सलिल में अपने ब्रह्म-ज्ञान को गर्क किये, कैसा भागता हुआ आ रहा है। देखिये न—

"निजजू" सुकवि ब्रज छोड़िबौ न भावै ऊधौ!
सचराचर कृष्णमई देखि अनुरागे हैं;
समाधान पाइ बनितान सौं सुजान-मति—
भानु की कुमारी के पाँइ पुनि लागे हैं।
आग्या लै उनकी प्रयान कौं चढ़े हैं रथ,
सकल सँदेस धारि द्वैत-रस पागे हैं;
प्रेम मैं मगन भूलि गए ब्रह्म-ग्यान सबै,
गुरु हौंन आए पै चेला होइ भागे हैं।

भैया! आपके एक अनधिकारी अन्ध भक्त ने भी उद्धव के प्रत्यागमन के प्रेममय पुनीत चित्र को, चित्त में चुभने लायक चित्रित किया है। क्या, मुलाहिजा फर्मायेंगे? यथा—

* हाथी के कुंभ कौ हाथ चलावत, टूटत है जिन पै नहि पप्पर,
काम यहाँ कछू सीजै सरै नहि, बातन आनि उठावत छप्पर।
देखति काहि दिखावत हौ कहा, कैसैं रँगै हम गेरुआ—कप्पर,
ऊधौ जू! जोग कौ जानौं कहा तुम "कालके जोगी, कलींदे कौ खप्पर।
—ग्वाल

गोपी, ग्वाल, नंद, जसुदा सौं तौ बिदा ह्वै उठे—
उठत न पाँइ पै उठावत उठत हैं;
कहै "रतनाकर" सँभारि सारथी पै नीठि,
दीठिनि बचाइ चले चोर ज्यौं भगत हैं।
कुंजन की, कूल की, कलिंदी की रुएँदी दसा—
देखि-देखि आँस औ उसाँस उमँगत हैं;
रथ तैं उतरि पथ-पावन जहाँ हीं तहाँ—
बिकल बिसूरि धूरि लोटन लगत हैं।

अथवा—

भूले जोग-छैम प्रेम-नैमहिं निहारि ऊधौ!
सकुचि समाने उर अंतर......हरास लौं;
कहै "रतनाकर" प्रभाव सब ऊँने भए,
सूँने भए नैंन, बैंन अरथ उदास लौं।
माँगी बिदा, माँगत ज्यौं मींच उर भींच कोऊ,
कीन्यौ मौंन गौंन निज हिय की हुलास लौं;
बिथकित साँस लौं चलत रुकि जात फेरि—
आँस लौं गिरत पुनि उठत उसाँस लौं।

अथवा—

चल चित पारद की दंभ-कैंचुली कै दुरि,
ब्रज-मग-धूरि प्रेम-मूरि सुभ सीली लै;
कहै "रतनाकर" सु जोगनि बिधान भाव;
अमित प्रमान ग्यान-गंधक गुनीली लै।
जारि घट-अंतर ही आह-धूम-धारि सबै,
गोपी बिरहागिनि निरंतर जगीली लै;
आए लौटि ऊधव! बिभूति भव्य-भाइनि की—
काइनि की रुचिर रसाइन-रसीली लै।

अथवा—

आए लौटि लज्जित नवाएँ नैंन ऊधौ अब,
सब सुख-साधन की सूधौ सौ जतन लै ;
कहै "रतनाकर" गँवाइ गुन, गौरब औ—
गरब-गढ़ा कौ परिपूरन पतन लै।
छाए नैंन नीर, पीर कसक कमाएँ उर,
दीनता अधीनता के भार सौं नतन लै ;
प्रेंम-रस रुचिर बिराग-तूमरी मैं पूरि,
ग्यान-गूदरी मैं अनुराग कौ रतन लै।

उद्धव के प्रेमपगी अद्भुत अधीरता की कारुणिक कथा, बड़े ही करुण शब्दों में "नंददासजी" ने भी कही है, और खूब कही है।

प्रेंम-बिबस्था देखि, सुद्ध अति भक्ति-प्रकासी ;
दुबिधा-ग्यान गिलानि-मंदता, सगरी नासी।
कहत भयौ निस्चैं इहैं हरि-रस की निज पात्र ;
हौं तौ कृत-कृत ह्वै गयौ, इनके दरसन मात्र।
मैंटि मल-ग्यान कौं।

पुनि-पुनि कहि हरि कहन बात एकान्त पठायौ ;
मैं इनकौ कछु मरम, जानि एकौ नहिं पायौ।
हौं कह निज मरजाद की, ग्यान रु करम निगोपि ;
ए सब प्रेंमासक्ति ह्वै रहीं लाज कुल लोपि।
धन्न ए गोपिका।

जो ऐसी मरजाद-मैंटि, मौंहन कौं ध्यावै ;
क्यौं नहि परमानंद, प्रैंम-पदवी कौं पावै।
ग्यान, जोग सब करम तैं, प्रैंम-परे ही साँचु ;
हौं यौं पटतर देति हौं, हीरा आगैं काँचु।
बिसमता बुद्धि की।

धन्न-धन्न ए लोग, भजत हरि कौं जो ऐसें ;
औरु कोऊ बिनु रसहि, प्रेंम-पावत है कैसें।
मेरैं वा लघु-ग्यान कौ, उर मैं मद होइ ब्याधि ;
अब जान्यौं ब्रज-प्रेंम की, लहत न आधौ आधि।
बृथाँ स्रम करि मर्‌यौ।
पुनि कहि परसत पाँइ, प्रथम हौं इनहिं निवार्‌यौ ;
भृंग-संग्या करि कहत, निंद सबहिन तैं डार्‌यौ।
अब ह्वै रहौं ब्रज-भूमि के, मारग मैं की धूरि ;
बिचरत पग मो पै धरैं, सब सुख जीबन-मूरि।
मुनिन-दुरलभ अहै।
कै ह्वै रहौं द्रुम, गुल्म-लता, बेली बन माहीं ;
आवत जात सुभाइ परैं, मो पै परछाहीं।
सोऊ मेरे बसी नहीं, जो कछु करौं उपाइ ;
मोंहन हौंहिं प्रसन्न जो, इहि बर माँगौं जाइ।
कृपा करि दैंहि जो।
पुनि कहै सब तैं साधु-संग, उत्तम है भाई ;
पारस परसैं लोह, तुरत कंचन ह्वै जाई।
गोपी-प्रेंम-प्रसाद सौं, हौंही सीख्यौ आइ ;
ऊधौ तैं मधुकर भयौ, दुबिधा-ग्यान मिटाइ।
पाइ रस प्रेंम कौं।

आपके प्रेम-रस से विमत्त "श्री शुक" भी तो ज्ञानवृद्ध उद्धव द्वारा यही कहलाते हैं कि—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां,
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ;
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा,
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्।

अर्थात्—यदि मेरा जन्म, इन गोपियों के चरण-रज से सेवित वृन्दाविपिन के गुल्म, लता और औषधियों में हो तब कहीं यह निरर्थक जीवन सार्थक हो। क्योंकि इन्होंने "या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा..." यानी स्वजनों के सिवा‌न स्वरूप वेद-विहित आर्य-पथ का परित्याग कर, श्रुतियों द्वारा ढूंढे गये श्री मुकुन्द भगवान सेवन किये—अथवा भजे। ब्रह्माजी भी कहते हैं कि—

> तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां,
> यद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोभिषेकम् ;
> यज्जीवितं तु निखिलं भगवान्मुकुन्द—
> स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव।

अर्थात् इस भूमि पर, और तिस पर भी वृन्दावन में गोकुल के पास, जन्म होना ही परम सौभाग्य है; क्योंकि यहाँ जन्म लेने से कभी-न-कभी यहाँ के निवासियों की चरण-रज पड़ ही जायगी और मेरा जन्म कृतार्थ हो जायगा। ये गोकुल-वासी! आह, कितने धन्य हैं कि जिसे श्रुतियाँ आजतक टकटोहती हुई अनादि, अनन्त कहकर भी न पा सकीं, और अब तक बराबर खोज ही रही हैं; वही इनका जीवन-सर्वस्व हो रहा है।

भैया! अव्वल तो आपके प्रेम के पगले, अपनी किसी प्रकार की आकांक्षा उद्घोषित करते ही नहीं—इच्छायें प्रदर्शित करते ही नहीं, और यदि कभी कोई कमनीय कामना कलेजे से बाहर निकली भी तो एकदम पागलों जैसी? सरकार! कोई तो आपके पादपद्म की पवित्र धूलि होना चाहेगा, तो कोई निकुंजस्थली की ललित-लतिका? और कोई आपके मधुवन के मोर होना चाहेगा, तो कोई

वृन्दाविपिन की सुकसारिका ? कोई नित्य-विहारस्थली निधिवन के फूल-पत्ते होना चाहता है, तो कोई टोंड़ के घने का काँटा ? कोई अपने—आप जैसे निष्ठुर प्राण-प्रियतम को निरखते-निरखते प्राण-परित्याग की अतुल आशा को आलिंगन करना चाहता है, तो कोई आपकी प्रेम-पाती को मरते समय छाती पर तुलसीदल के बदले रख देने की अभिलाषा-उद्भावित करता है ! आह , कैसी कमनीय अभिलाषायें हैं—कितनी कोमल आकांक्षायें है !

आँख मेरी तलुओं से वह मल जाय तो अच्छा ,
यह हसरते पा बोस निकल जाय तो अच्छा ।

—जौक़

मरते दमतक भी वह मेरा प्यारा ! अगर आकर अपने तलुओं से मेरी इन अभागिनी आँखों को मल जाय, अपने पुनीत पाँव के कोमल तलुओं को सफा करने के निमित्त ही यदि नेत्रद्वय से रगड़ जाय तो अच्छा क्या, निहायत अच्छा हो ! आह , मेरी किसी तरह उसके पैर चूमने की हसरत तो हृदय से निकल जाय ! दिल की दुर्दमनीय अभिलाषा कुछ तो पूर्ण हो जाय ! क्योंकि—

नहीं इश्क़ का दर्द लज़्ज़त से खाली ;
जिसे "जौक़" है वह मज़ा जानता है ।

प्यारे ! आपके पावन प्रेम की पगली एक गोपी ने उद्धव के जोग की जटिल जल्पना से जल कर यही जवाब दिया था—कुछ ऐसी ही उद्दाम आकांक्षा का प्रस्फुटन कर, अपार आनंद का सुख लूटा था कि—

ऊधौ ! यह तन जो कोउ फेरि बनावै ;
तऊ नंद-नंदन तजि प्यारौ, औरु न मन मैं आवै ।

जो या तन की तुचा काढ़ि कैं, सुभग दुन्दुभी सजई ;
मधुर उतंग सबद-सुर निकसै, लाल, लाल ही बजई ।
छूटैं प्रान मिलै तन माटी, द्रुम लागैं तिहिं ठाम ;
कह अब "सूर" फूल, फल, साखा, लेति उठैं हरि-नाम । ❀

अर्थात् उद्धव ! किसी काम में न आने वाले इस नश्वर शरीर की यदि पुनर्वार रम्य रचना हो तो, उस परम प्यारे नंद-नंदन व्रज-चंद के अलावा अन्य फिर भी मन में न अट सकेगा ! इस हृदय-सिंहासन पर उनके सिवा और कोई को जगह प्राप्त न होगी, न होगी ! क्योंकि इस तृणवत् तन की तुच्छ त्वचा निकाल कर—खाल खींच कर यदि कोई अपनी मनोहर मृदंग मनोनीत करे, तो बजाने पर उसके सुमधुर उतंग सुस्वर से लाल-लाल की ही सरस सदा निकलेगी; लाल-लाल की आवाज ही उद्घोषित होगी, और इसी तरह प्रपंची-प्राण के छूटने पर पंचतत्व, पंचतत्व में परिणत हो, तो पृथ्वीतत्व मृत्तिका में परिणत अवश्य ही होगा, साथ ही उस मृदुल मृत्तिका में पवित्र पेड़ प्रस्फुटित होंगे हा ? अस्तु; उनके फल, फूल, शाखा प्रभृत्ति विविध विधानमय अनन्त उपादान—उसके प्रत्येक अवयव, प्यारे के पवित्र नाम की ही रमणीय रट लगायगे, और किसी की नहीं ।

❀ कुछ ऐसा ही "नागरीदास" जी कहते हैं—

ऊधौ ! बृथाँ करत बकवाद ,
हम जान्यौ, तुम जान्यौ नाहीं, रूप-सुधा-सुख-स्वाद ।
सकल ब्रज मोहन मई है, गोप गोपी गाइ ,
तिन्हैं बिनु घन-स्याम सुन्दर, कैसें औरु सुहाइ ।
तन हमारे खंड-खंड करि, देहु जो भुँअ-डार ,
न्यारे-न्यारे लिपट जाँइ लखि, "नागर" नंदकुमार ।

दफ़्न करना मुझको कूँचए—यार में,
कब्र बुलबुल की बने गुलजार में।

—कोई शायर

वाह! विपुल विरह का कैसा विशद वर्णन है! पावन प्रेम का कैसा कोमल भावना-विभूषित भव्य भाव है! कैसी अनूठी अभिलाषा है! अनुपम इच्छा की कितनी सुन्दर तस्वीर है, वाह!

श्रीमान्! आपके प्रेममय सुरस से परिप्लावित "रसखान" भी तो यही चाहते हैं कि—

मानुष हौंउँ तौ वही "रसखानि" बसौं ब्रज गोकुल-गाँव के ग्वारनु;
जो पसु हौंउँ तौ कहा बस मेरौ, चरौं नित नंद की धेंनु मझारनु।
पाहन हौंउँ, तौ वही गिरि कौ, जो धर्‌यौ कर छत्र पुरन्दर धारनु;
जो खग हौंउँ तौ बसेरौ करौं, मिलि कालिन्दी-कूल-कदम्ब की डारनु।

प्यारे! इसी तरह आपके भव्य भक्त कृष्णगढ़ाधीश नागरीदासजी की भी अनोखी अभिलाषाएँ हैं। यथा—

कब बृन्दाबन-धरनि मैं, चरन परैंगे जाइ;
लोटि धूरि धरि सीस पै, कछु मुख हू मैं पाइ।

❀

पिक, केकी, कोकिल कुहुँक, बन्दर-बृन्द अपार;
ऐसे तरु लखि निकट कब, मिलिहौं बाँह-पसार।

❀

कबै झुकत मो ओर कौं, ऐहैं मद गज-चाल;
गरबाँहीं दींनैं दोऊ, प्रिया नबल-नंदलाल।

❀

कब दुखदाई होइगौ, मोकौं बिरह अपार;
रोइ-रोइ उठि दौरिहौं, कहि-कहि नंदकुमार।

❀

नैंन द्रवैं जल-धार लौं, छिन-छिन लेति उसास ;
रैनि अँधेरी डोलि हौं, गावत जुगल उपास।

❀

पाँइ छिदत काँटेनु तैं, स्रवत रुधिर सुधि नाँहें ;
पूँछति हौं फिरिहौं तहाँ, खग, मृग, तरु बन माँहिं।

❀

हेरत, टेरत, डोलिहौं, कहि-कहि स्याम सुजान ;
गिरत-फिरत बन-सघन मैं, यौंहीं छुटि हैं प्रान।

—और लो ! कुछ ऐसी ही सरस शर्तें "ललित-किशोरीजी" भी पेश करते हुए कहते हैं—

कदँब-कुंज ह्वै हौं कबै, श्री बृन्दाबन माँह ;
"ललित-किसोरी" लाड़िले, बिहरैंगे दै बाँह।

❀

सुमन-बाटिका बिपिन कौ, कब ह्वै हौं मैं फूल ;
कौंमल कर दोऊ भाँवते, धरिहैं बीन-दुकूल।

❀

मिलि है कब अँग छार ह्वै, श्रीबन-बीथिन-धूरि ;
धरिहैं पद-पंकज बिमल, मेरे जीवन-मूरि।

❀

कब कालिन्दी-कूल कौ, ह्वै हौं तरुवर डारि ;
'ललित-किसोरी" लाड़िले झुलिहैं झूला डारि।

भैया ! एक भक्त की अपूर्व इच्छा—अनुपम अभिलाषा और सुन लो। ओह ! कितनी कातरतायुक्त पुनीत प्रार्थना है, कि सुनकर दिल फड़क उठता है। यथा—

पञ्चत्वं तनुरेति भूतनिवहाः स्वांशैर्मिलन्तु ध्रुवं ;
धातारं प्रणिपत्य हन्त शिरसा तत्रापि याचे वरम्।

तद्वापीषुपयस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयाङ्गन—
व्योम्निव्योम तदीयवर्त्मनि धरा तत्तालवृन्तेऽनिलः ।

प्रभो ! यह शरूर भरा शरीर, पंचतत्त्वों के पृथक्-पृथक् स्वकारणों में लय हो तो, कृपाकर इतना अवश्य कीजियेगा कि इसका जल तो, उस सुन्दर सरोवर में समा जाय जिसमें कि मेरा प्रियतम स्नान करता हो। तेज तत्व, उस दिव्य दर्पण में लीन हो जाय, जिसमें कि प्यारा मुखड़ा देखता हो, और आकाश तत्व, उसके गृहाकाश में गुम्फित होकर घर का चँदवा बन जाय, तथा पार्थिव-तत्व यानी पृथ्वीतत्व, उसके मनोहर मार्ग में मिल जाय, जिसमें कि वह अपने कोमल-कोमल चरण धरता हुआ, चलता हो, इसी तरह नाथ ! इस शरीर के वायुतत्व को उस पंखे में परिवर्तित कर दीजिये, जिससे कि वह अपने श्रमसीकर सुखाता हो। तात्पर्य यह कि मेरे इस अधम शरीर के मरने पर भी—अलाहिदा-अलाहिदा तत्व अलविदा होकर भी, प्यारे की सेवा में ही संलग्न रहें। वाह ! कैसी चोखी चाहना है—

निकल जाय दम तेरे कदमों के नीचे ;
यही दिल की हसरत, यही आरजू है।

—कोई शायर

प्यारे! इन प्रेमियों की कैसी ऊटपटाँग चाहना है—फल, फूल, पेड़, पत्ता और उसका काँटा एवं रज, पत्थर, पवन, मोर, चकोर आदि न जाने क्या-क्या बनने को विपुल उत्सुक हैं,—तैयार हैं। लेकिन बशर्ते आपका दिल-लुभाने वाला दीदार नसीब होता रहे, आपके शुभ मिलन के सहायक हों, साधक हों, अन्यथा नहीं ! नहीं !! नहीं !!!

नाथ ! आपका वह प्रिय सखा, विषय-विपरीत बोलने वाला बहादुर ! अब पहिले जैसा नहीं रहा। अजी वह तो पारसमणि परस कर सरस सुगन्धयुक्त सुवर्ण बन आया है—खरा सोना हो गया है। व्रज की बयार से बहक कर, आज वह भी हृदय की थाली में—

"अँसुवन सौं सींचि-सींचि, प्रैम-बेलि......"

❀

"मेरैं तो गिरधर गुपाल, दूसरौ न कोई" ;
जाके सिर मोर-मुकुट, मेरौ पति सोई।
तात, मात, भ्रात, बन्धु, अपनौं नहिं कोई ;
कुल की काँनि छाँड़ि दई, करिहैं का कोई।
संतन-ढिंग बैठि-बैठि, लोक-लाज खोई ;
चुनरी के किये टूक-टूक, ओढ़ि लई लोई।
मौंती, मूँगा उतारि, बन-माला पोई ;
"अँसुवन-जल सींचि-सींचि प्रैंम-बेलि बोई।"
अब तौ बेलि फैल गई, आनँद-फल होई ; ❀
दूध की मथनियाँ बड़े, प्रैंम सौं बिलोई।
माखन जब काढ़ि लियौ, छाछ पिऐ कोई ;
आई मैं भक्त काज, जगत देखि मोई।
दासि "मीराँ" गिरिधर प्रभु ! तारे सब कोई ;

कुछ ऐसा ही "तानसेन" जी ने भी कहा है; और खूब कहा है। यथा—

❀ हमें उक्त पद का यह अंश इस प्रकार याद है—

"अब तौ बात फैल गई, जानत सब कोई"

इन अँखियनु, मन मैं, बिरह की बेलि बई ;
सींचि-सींचि अँसुवन-पानी री ! दिन-दिन होत चाँह नई ।
उलहत पातन नए बूँद सौं, जर पाताल गई ;
"तानसैंन" प्रभु तुमरे दरस बिनु, सब तन छीन भई ।

—के कोमल भावमय सरस सुमनों के साथ, अन्तर्हित निगूढ़ ज्वाला के दीपक जलाये। और विरह उत्ताप से उत्तापित अन्तर्धूमरूप अगरबत्ती की धूप को धरे, तथा जीवन के नवीन नैवेद्य के साथ उत्साह के अक्षत रख, आपकी कुटिलता का महिम्नपाठ पढ़ता, पूजा निमित्त दौड़ा चला आ रहा है। श्रीमान् ! उसकी जरा सरस स्तुति तो सुन लो ! यथा—

करुनामयी रसिकता है, तुम्हरी सब झूँठी ;
तब ही लौं कहौ लाख, जबहि लौं बँधि रही मूँठी ।
मैं जान्यौ ब्रज जाइकैं, निरदै तुम्हरौ रूप ;
जे तुमकौं अवलंब हीं, तिनकौं मेलौ कूप ।
कौंन यह धरम हैं ।

—नंददास

अरे ! आपकी सारी रसिकता, सम्पूर्ण प्रेम प्रवीणता, मैंने व्रज जाकर देख ली, वह सब असत्यता से अलंकृत है। उफ ! यह आपका निर्दयी रूप, झूठ के अनोखे अलंकार से आपाद-मस्तक सुशोभित है। श्रीमान् ! जब तक हाथ की मुट्ठी बँध रही थी, तब तक ही खैर थी ! अस्तु; लाख-लाख कपटयुक्त बातों का जो विचित्र जाल बिछा रखा था उस सबकी, व्रज जाकर कलई खुल गयी—ढोल की पोल मालूम हो गयी ! बतलाईये, बतलाईये ! यह कौन सा धर्म है ? कौन सी नीति-निपुणता है ? कि—

"जो तुमकौं अवलम्ब हीं, तिनकौं मेलौं कूप"

—उनको कुए में कूदा दो ? गढ़े में गिरा दो ? अथवा विरह-सिन्धु में डुबा दो ? वाह साहब ! अच्छा न्याय का नमूना प्रदर्शित करते हो ?

प्यारे उद्धव ! किससे क्या कह रहे हो ? अरे, इनके लिये तो आपके सन्मुख पहिले ही अनोखा आशीर्वाद चश्पा किया जा चुका है। इन "नीम-चढ़े करेले"* की ख्याति-प्रख्याति करने को पहिले ही नोटिस बटवा दिया है। जैसे कि—

ऊधौ ! कारे सबहि बुरे ;
कारे की परतीति न कीजै, बिष के बुते छुरे।
कारौ अंजनि देति दृगन मैं, तीखी सान धरे ;
नागनाथ हरि बाहर आए, फन-फन निरत करे।
कोइल के सुत कागा पाले, अपनोई ग्यान धरे ;
पंख लगे जब गए सु उड़िवे, अपने काम सरे।
"सूर" स्याम कारे, मतवारे, कारे तैं काल डरे।

—हाँ उद्धव जी ! कालों की प्रतीति कभी न करना, क्योंकि वे सब-के-सब बड़े बुरे होते हैं, और बुरे भी कैसे कि "विष के

* उक्त उक्तिपर "रंजूर" का विचार विभ्राट देखिये—

मैंने जो कसीदा उसकी मुदहत में पढ़ा,
और उस बुते मग़रूर का पिंदार बढ़ा।
था तो पहिले से करेला—कड़वा,
इस पर गजब हुआ कि नीम चढ़ा।

अथवा—

एक गुलाम गाँव कौ ठाकुर, एक मथुरिया बेद पढ़ा,
एक बाँदरा बीछी काटी, एक करेला नीम चढ़ा।

बुझे छुरे" की तरह महा भयानक ! अत्यन्त दाहक ! अस्तु; इनका कभी विश्वास न करना—न करना ! देखो न "नंददासजी" भी तो यही निनाद कर रहे हैं कि—

कोऊ कहै सखि ! बिस्व माँहि जेतकि हैं कारे ;
कोटि कपट की खाँन, कुटिल मानुष विषवारे ।

क्योंकि—

एकु स्याम-तन परसि कैं, जरत आजु लौं अंग ;
ता पाछैं फिरि मधुप यह, लायौ जोग भुअग ।
कहा इनकौं दया ।

—और "ललित-किशोरी जी" का भी "फतवा" लो ! ये भी "सूरदास" और "नंददासजी" की हाँ-में-हाँ मिलाते यही फर्माते हैं कि—

मधुकर ! मेरे ढिंग जनि आइ ;
तैं हरजाई बंस, कलंकी, सब फूलन बसि जाइ ।
"कारे सबै कुटिल जग जाने, कपटी निपट लबार" ;
अमृत-पान करि विष उगलैं अहि-कुल परतच्छ निहार ।
देखति चिकनी सुभग चमकती, राखी मंजु बनाइ ;
कारी-अनी बान की पैंनी, लगत पार ह्वै जाइ ।
कारी निसि चोरनु कौं प्यारी, औगुन भरी अनेक ;
"ललित-किसोरी" प्रीति न करिहौं, कारे सौं यह टेक ।

धन्य भगवन्, धन्य ! आपने काले होकर क्या कुटिलता की, सब कालों के सर ही कुटिलता मढ़ दी—सबको अपनी जमात में शामिल कर लिया ? अब कोई काहे को कालों से प्रीति करेगा ! प्रतीति करेगा ! क्योंकि अब तो वे—

"जग जाने, देस बखाने"

—हो गये ! उनका कपटी होना अखबारों में छप गया, "हैंडबिल" बट गये, फिर भी इतबार ? विश्वास ? भला जीते जी मक्खी कौन निगलेगा ? प्रत्यक्ष अनुभव करके भी कौन विश्वास करेगा ? क्योंकि—

करार करके न आया वो संगदिल काफ़िर ;
पड़े करार पै पत्थर ये कुछ करार हुआ ।

—नज़ीर

भैया ! यह न समझना कि मथुरा आगमन के अनन्तर ही यह "फ़तवा" पब्लिक में शाया किया गया हो—यह सिगूफ़ा आप की अदम मौजूदगी में ही जाया किया गया हो । नहीं भगवन् ! इसके पहिले भी आपके इस बाहरी रुचिर रंग का रमणीय वर्णन, आन्तरिक कलुषता के साथ कई बार हो चुका है । जैसे कि—

"गोबिंद" प्रभु-पिय भलैं जु भलैं आए—
जानि पाए जैसे तन-स्याम वैसे ही मन कारे । *

श्यामसुन्दर ! अपने इस काले रंग की एक दिल्लगी और सुनिये । एक दफे आपको और "श्रीप्रिया" जी को एक ही सेज पर सुलाने का वृथा प्रयास किया गया, तो श्रीप्रिया जी आज्ञा करती हुई कहती हैं कि, यह बात कदापि नहीं होने की ! क्योंकि मुझे इस काले-कलूटे के साथ "हम-विस्तर" होकर काली नहीं होना है, मुझे साँवली-सलोनी नहीं बनना है । जैसे कि—

* रसमसे नंददुलारे ! आए हौ उठि भोर ;
अरुन नैन, बैन अटपटे, भूषन दिखयतु, जहँ-तहँ अधरन-रँग-भारे
कित अब बाद करत गुसाँई ! जहीं जावौं हो जाके प्रान-प्यारे ,
"गोबिंद" प्रभुप्रिय भलैं जु भलैं आए, जानि पाए, जैसे तन-स्याम, तैसेई मन-कारे ।

राधिका-माधवै एकु ही सेज पै, धाइ लै सोई सुभाइ सलौंने ;
पारे "महाकवि" कान्ह कौं मध्य मैं, राधे कह्यौं-"यह बात न हौंने" ।

क्योंकि—

"साँवरी हौंउँगी साँवरे-रंग मैं", बावरी तोहि सिखाई है कौंने ;

अरी—

सौंने कौ रंग कसौटी लगै, पै कसौटी कौ रंग लगै नहिं सौंने ।

—महाकवि

अथवा—

न्हात ही न्हात तिहारेई स्याम ! कलिन्दियौ स्याम भई बहुतै हैं ;
धोखेंहू धोइ हौ या मैं कहूँ तौ, यहै रँग सारिन मैं सरसै हैं ।

और—

साँवरे-अंग कौ रंग कहूँ, यह मेरे सु-अंगन में लगि जैहैं ;
छैल-छबीले छुऔगे जु मोहिं, तौ गातन मेरे गुराई न रैहैं ।

—मनोज-मंजरी

प्यारे ! मुझे छू न लेना; क्योंकि—आपका जरा भी स्पर्श हुआ कि मेरी सारी गोराई गर्द हुई । खुबसूरती का खातमा ही समझो ! अजी मैं तो काली-कलूटी बन जाने के भय से कलिन्द-नंदनी में नहाने की बात तो क्या अपनी साड़ी भी श्याम रंग चढ़ जाने के भय से—आप जैसा रंग चढ़ जाने के ख्याल से, धोखे में भी नहीं धोती ! कारण कि श्रीमान् ने नहा-नहा कर उसे भी काली-कलूटी बना दिया है ! उसमें भी अपना अनोखा रंग घोल दिया है ! अस्तु; जरा दूर ही रहें नाथ ! कृपया पास न आयें; और न मुझे छूए हीं ।

खेलत जानेसि रोलिया, नंदकिसोर,
छुइ बृषभानु-कुमरिआ, भैगा चोर । —रहीम

यह कुछ झूठ नहीं है, देख न लो! खुद श्रीमान् का पीला-पट भी इस काले-कलूटे रंग के प्रभाव से साँवला हो गया है। यथा—

भोर हीं आवत नौल किसोर, बिलोकति ही ललना उठि दौरी ;
"बैंनी-प्रबीन" दोऊ कर सौं गहि गाढ़े कै लागि गई लड़वौरी।
जानैं कहा ए अजानी सबै, मैं दिखाइ हौं लै सखियाँनु कौं औरी,
"साँवरे-रंग लगैं हरि रावरौ, साँवरी ह्वै गई पीत-पिछौरी।"

ॐ

"रहिमन" उजली प्रकृत कौं, नहीं नीच कौ संग ;
करिया बासन कर गहें, कारिख लागत अंग।

श्रीमान्! "सूरदास" जी की "रिसर्च" की रिपोर्ट से पता लगा है कि—

"कारे सौं काल डरै"

—अर्थात् काले से अथवा काले रंग वाले आप से, काल डरता है। लेकिन कोई इन से पूछे कि, अय अपनी गाँठ की रकम न रखने वालो! कहीं काले के आगे आजतक चिराग जला है? * अरे, यह रंग ही ऐसा अनोखा है कि इसके पास तो क्या; इनके "हमजोलियों" के पास भी—इनके भव्य भक्तों के नजदीक भी, काल की दाल नहीं गलती। वे तो जन्म-मरण से मुक्त हो उन जैसे ही हो जाते हैं—काले कलूटे ही बन जाते हैं? फिर काल की दाल गले तो क्योंकर गले!

मृत्युकाले द्विजश्रेष्ठ! रामेति नाम यः स्मरेत ;
स पापात्मापि परमं मोक्षमाप्नोति जैमिने!

---

* ब्रज-मौहन-पिय, मौहन काज ;
किए जतन बहु, तिय तजि लाज।
बन्यौ न ज्यौं बखान जग करै,
कारे आगै दीपक बरै!—लोकोक्ति-नायिकाभेद

अर्थात् हे जैमिने ! जीवन की बात छोड़ो, मृत्यु-समय भी यदि रामनाम वा कृष्णनाम का स्मरण क्षणिक हो जाय, तो भी कैसा ही पापात्मा क्यों न हो फिर मोक्ष होना ध्रुव सत्य है।

अजी हजरत ! मुक्ति की चर्चा चलाना ही असंगत है, क्योंकि—वह (मुक्ति) भगवत-सेवा से मीठी नहीं है, मधुर नहो है। सेवा की होड़ मुक्ति भकुई क्या खाकर करेगी—

सेबा मदन-गुपाल की, मुक्ति हु तैं मींठी ;
जानैं रसिक उपासक, जिन सुक-मुख तैं दीठी।
चरन-कमल-रज मन बसी, सब धरम बहाई ;
स्रवन, कथन, चिन्तन बढ्यौ, पावन जस गाई।
बेद, पुरान निरूप कैं ; रस लियौ निचोई,
पान करत आँनद भयौ, डार्‌यौ सब धोई।
"परमानंद" बिचारि कैं, परमारथ-साध्यौ ;
रामकृष्ण-पद प्रेम सौं, लालच-रस बाध्यौ।

—और इसके सरसरस को तो रसिक उपासक ही जानते हैं। शुक—उच्छिष्ट* इस परम आनंदरूप सेवा, सक्कर से भी ज्यादह मीठी है। भला मुक्ति बेचारी की इसके आगे क्या औकात ! यह तो श्रुति-स्मृति और पुराणादि की पावन भट्टी से निचोयी हुई वह अनुपम मदिरा है—इस दो अक्षर के "कृष्ण" नाम में वह जादू है कि, सिर चढ़के बोलता है। घरबार की, तनबदन को, सारी सुधि भुला देता है—बावला बना देता है। यथा—

कृष्ण-नाम जब तैं स्रवन सुन्यौं री आली !
भूली री भवन मैं तौ बावरी भई री ;

* लोक में प्रसिद्ध है कि—तोते का जूठा फल बड़ा मधुर अर्थात् मीठा होता है।

भरि-भरि आवैं नैंन, चितहू न परै चैंन,
मुख हू न आवै बैंन, तन की दसा कछु और भई री।
जेतक नैंम, धरम किए री मैं बहु बिधि--
अंग-अंग भई हौं तौ स्रबन मई री।
"नंददास" जाके स्रबन सुनति ऐसी गति,
माधुरी मूरति कैधौं कैसी दई री।

सचमुच, आपका चारु चरित्र एक बला है—दुसाध्य रोग है। यह मर्ज ला इलाज है, अस्तु—

"सहते ही बनैं, कहते न बनैं, मन हीं मन पीर पिरैबौ करै"
—बोधा

इस राज-रोग को तो सहते ही बनता है। मन की पीड़क पीर के—दर्द-दिल के, मजे मन ही मन लूटते ही बनते है। लेकिन आह, कहते नहीं बनते !

उफ़ ! यह व्याधि—यह बावलापन कैसा सुखद है, कैसा आनंद दायक है, कि मुक्ति को ठुकरा कर इसे अनावश्यक समझ, बाधक समझ, उस ललित-लज्जत के लिये ही बार-बार पाने की यह प्रार्थना करता है कि--

बिधिता ! बिधि हू न जानी ;
सुन्दर बदन पान करिबे कौं, रौंम-रौंम—
प्रति नैंन न दीने, करी यह बात अयानी।
स्रबन सकल बपु होते री मेरैं, सुनती—
पिय-मुख अमृत सी मधुर बानी ;
भुजा होतीं कोटि-कोटि तौ हौं भेंटती—
"गोबिंद" प्रभु सौं, तौऊ न तपन बुझानी।

वाह, क्या कमनीय कामना है ! कितनी सरस अभिलाषा है !

उफ़...विधाता ! तूने इतना भी न जाना, तेरी समझ में इतना भी न आया, कि इस कलेजे में रखने काबिल अनुपम रूप-माधुरी को निरखने के निमित्त, दोही नेत्र दिये ? प्रियतम के मुख—सुधा से अभिषिञ्चित् मधुर सुशब्दावली को सुनने के लिये दोही कान दिये, और उसे आलिंगन करने को—हृदय से लगाने को, दोही भुजा बख्शी ? क्या अक्कल बिगड़ गयी थी अक्कल, नहीं तो—

"प्रति लोमन लोचन क्यों न दए"

—कोई कवि

मुक्ति-मुक्ति चिल्लाने वालो ! कहो-कहो, यह लज्जतदार मजे, निराकार से नियुक्त मुक्ति में हैं ? रूप-माधुरी के चखने का—निरखने का कहीं ठिकाना है ! बताओ, बताओ ! इसलिये ही तो प्रेम-दिवाने मुक्ति की चर्चा चलाने में चुप हैं, और फिर—भक्त तो सदा ही संसार से विमुक्त हैं, फिर क्यों वे मुक्ति की इच्छा करने लगे !*

उर अनुराग, रसिक-आँखों बिच, बर गोरी-छबि छाजै ;
घनश्यामल मिलि अजब त्रिवेणी-वेणी तिलक बिराजै ।
गुस कुसल आशिकदाँ दम-दम, "सहचरिशरण" समाजै ;
बिमल-विनोद विलोकि जिनों को, मुक्ति-मौज मन लाजै ।

* त्वयि जनार्दन भक्तिरचंचला,
यदि भवेदफलप्रवणा ममः ;
अभिलाषान्यपवर्गपराङ्मुखः ,
पुनरपीह शरीरपरिग्रहम् ।

—आनन्दवर्धन

अर्थात् हे जनार्दन ! यदि आपके चरण-कमल में मेरी कामना रहित भक्ति हो तो, मैं मुक्ति का परित्याग कर पुनः शरीर ग्रहण करने की उत्कट अभिलाषा करता हूँ।

अस्तु—

अब तकरार करौ जिन यारौ! लगी लगन चितचंगी,
जीवन-प्राण जुगल जोरी के, जगत जाहिरा अंगी।
मतलब नहीं फिरश्तों से हम, इश्क-दिलाँ दे संगी,
"सहचरिशरण" रसिक सुलताँवर महिरबान रस-रंगी।

—सरस-मंजावली

इसी से तो कहते हैं कि—रक्त, विरक्त से अनुरक्त का आसन ऊँचा है,—इनका सिंहासन सर्वोपरि है और ठीक भी है, क्योंकि-अनुरागी के अलावा "भगवान" से और कौन बातें कर सकता है, उन्हें टेढ़ीमेढ़ी बातों से छका सकता है, अस्तु "हित हरिवंश जी" कहते हैं कि—

प्रीति की रीति रँगीलौ ही जानैं;
जद्यपि सकल लोक-चूरामनि, दीन अपनपौ मानैं।
जमुना-पुलिन निकुंज-भवन मैं, माँन माँननी ठानैं;
निकट नबीन कोटि कामिन-कुल, धीरज मनहिं न आनैं।
नस्वर देह, चपल मधुकर ज्यौं, आँन-आँन सो बानैं,
"(जै श्री) हित हरिबंस" चतुर सोइ, लालहि, छाँड़ि मैंड़ पहिचानैं।

प्रीति की रीति को रँगीले ही जानते हैं—प्रेमी ही पहिचानते हैं। प्रेमी, प्रीति को प्राण से ज्यादह समझ कर उसे त्यागने की कभी भी धृष्टता नहीं करता अपितु हृदय से हमेशा चिमटाये रहने की आकांक्षा रखता है। उफ, न मालूम इन तीन अक्षर—संयुक्त "प्रीति" का क्या प्रभाव है कि तीन लोक-पति भी जिसके वशीभूत हो नाना भाँति से नाचा करता है। ये प्रीति के मनोहर अक्षर सृष्टि के आरंभ में किधर उलझ रहे थे, मालूम नहीं? ओह! रात्रि के रुचिर समय भी प्रीति-रूपी-प्रेयसी विचित्रता से उपस्थित होती

है और प्रभात के समय, जब कि निर्मल बयार बह रही हो, निर्जन नदी के तट से ऊषा का स्निग्ध-शान्त रूप रपट रहा हो, अपनी मधुर मंद मुसिक्यान के साथ सामने, मन्थरगति से सन्मुख समुपस्थित हो जाती है। जिसे देखकर प्राणीमात्र श्रद्धा और संम्भ्रम के साथ नतमस्तक हो, उसकी मधुरता का आस्वादन करता रहता है। जैसे कि—

राते प्रेयसीर रूपे धरि,
तुमि एसेछो प्राणेश्वरि।
प्राते कखन देवीर बेशे,
तुम समुखे उदिले होसे।

——चंडीदास

आह! प्रीतियुक्त भाव, प्रेम का प्रबल प्रभाव, कैसा अद्भुत है—कितना विस्तृत है, कि सारे जगत को, विश्व को, उस मय ही देखता है, प्रथकता का आभास रहता ही नहीं जैसे—

जित देखौं तित स्याम मई है,
स्याम कुंज बन, जमुना स्यामा, स्याम गगन घन-घटा छई है।
सब रंगन मैं स्याम भरौ है, लोगु कहत यह बात नई है,
हौं बौरी, कै लोगन हीं की, स्याम-पुतरिया बदल गई है।※
चन्द्र सार, रबि सार स्याम हैं, मृगमदसार काम बिजई है;
नीलकंठ कौ कंठ स्याम है, मनहुँ स्यामता-बेलि बई है।

※ "हौं बौरी, कै लोगन ही की..." पर विहारी का एक दोहा याद आ गया है, देखिये न कितना सुन्दर है। यथा —

हौं ही बौरी बिरह-बस, कै बौरौ सबु गाउँ,
कहा जानि ए कहत हैं, ससिहि सीतकर-नाउँ।

स्रुति को अच्छर स्याम देखियतु, दीप-सिखा-पद स्याम तई है ;
नर, देवन की कौन कथा है, अलखब्रह्म-छबि स्याम मई है। *

प्रेम का यह कोमलतन्तु, इश्क का यह नाजुक धागा, कितना विलक्षण होता है, कितना मजबूत होता है, वाह! इस अदृश्य रज्जु की करामात तो देखो—

नंद-सदन गुरुजन की भीर, तामैं
मौंहन-मुख नीकैं देखि न पाऊँ,
बिनु देखैं रह्यौ न जाइ, जिय अकुलाइ,
दुख पाइ, जदपि बड़रे-छिन उठि धाऊँ।
लै चलि री सखी! मोहि जमुनातीर, जहाँ—
ह्वैहैं बलबीर, देखि-देखि दृगन सिराऊँ,
"नंददास" प्यासे कौं पानी पिबाइ, लै जिबाइ,
जिय की जानति तू, तोसौं कहाँ लगि दुराऊँ।

इस जीवन में अनन्त दुख है, पर मर्मान्तक दुख है प्रिय का अदर्शन! जिसे देखकर हृदय आल्हादित हो, उसे अच्छी तरह न देख पाना, निराशा की कितनी लोल लहरियाँ है? फिर जिय में अकुलाहट क्यों न हो? चपल चित्त में देखने की चंचलता क्यों न हो? लेकिन बावली! प्रेम-साम्राज्य में लोक-लज्जा, गुरुजन-अवज्ञा का कुछ दखल नहीं—उनकी कुछ गुंजाइश नहीं। यहाँ तो—

स्याम के मैं अंग लगौंगी, कलंक लगै तौ लगै,
सुनियो री मेरी पार-परौसिन! घर सास खिझै तौ खिझै।

* बैर बढ़े तैं बढ़ै अति ही, अब को कहि कै कहि कौन सौं जूझै,
जैसी भई हरि-हेरति ही, सुतौ को हिय की, जिय की गति बूझै।
बाहर हू, घरहू मैं सखी! अँखियाँनु बढ़ै छबि आँनि अरूझै,
साँवरौ-रंग रह्यौ उर मैं, सिगरौ जग साँवरौ, साँवरौ ही सूझै।

लोकहु की कुल-काँनि जाइ क्यौं न, लाज भगै तौ भगै ;
"आनँदघन" पिय उघर-मिलौंगी, सिर तोप दगै तौ दगै।

अथवा—

जब तैं दरसे मनमौंहनजू, तब तैं अँखियाँ ए लगी सो लगी ;
कुल काँनि गई सखी ! वाई घरी, जब प्रेम के फंद पगी सो पगी।
कवि "ठाकुर" नेह के नेजन की, उर मैं अनी आँनि खगी सो खगी,
तुम गाँवरे नाँवरे कोऊ धरौ, हम साँवरे-रंग रँगी सो रँगी।

अस्तु, एक दिन कुछ ऐसे ही पावन प्रेम में प्लावित अर्थात् रँगी हुई एक रँगीली गोप-बाला ने श्रीमान् को ऐसा छकाया कि शर्मिन्दा होना ही पड़ा। याद है न साहब ! न हो तो पुनः सुन लीजिये ! देखिये वह क्या कहती है कि—

सूकर ह्वै कब रास रच्यौ, बरु बामन ह्वै कब गोपी नचाई ;

और—

मीन ह्वै कौंन के चीर हरे, तिमि कच्छप ह्वै कब बैंनु बजाई।

एवं—

ह्वै कैं नृसिंघ कहौ हरि जू ! तुम कौंन की छातिन रेखु लगाई ;

अस्तु—

बृषभानु-सुता प्रगटी जब तैं, तब तैं तुम केलि-कला-निधि पाई।

—कोई कवि

—हाँ, तो बतलाइये न सरकार ! कि क्या सूकर होकर यानी सूकरावतार में रास रचा था ? क्या बामन बनकर गोपियाँ नचाई थीं ? और कहो-कहो मीन होकर किसके चीर चुराये थे ? तथा कच्छप की कमनीय कृति में भी कभी वेणु बजाई थी ? इसी तरह बतलाइये कि श्रीमान् ने नृसिंह के चोले से किस की छाती को उन बड़े-बड़े नाखूनों से नख-क्षत द्वारा सुन्दर रेख लगायी थी ? अर्जी

हजरत ! यह सारी केलि-कला की विविध-विधि श्रीवृषभानु-सुता के प्रगटने पर ही पाई है। अन्यथा और अपर अवतारों में ऐसी रहस-केलियाँ कहाँ थीं ? अपने मुँह मियाँ-मिट्ठू भले ही बन लो।

मौहन ! रस ना आवतो, नेंकु सरद के रास ;
होती कहुँ वृषभानु की, जो न राधिका पास।
—रसनिधि

बिलाशक ! बगैर उस्ताद के—गुरु के, अभाव में कौन किस विद्या में पारंगत हुआ है ? कौन हुनरों में दक्ष हुआ है ? कोई नहीं। अस्तु, यह सारी कारगुजारी, सिर से पाँव तक सम्पूर्ण कमनीय करामात तो हमारी "श्री प्यारी जी" की ही है। जैसे—

पियकौं नाँचन सिखवति प्यारी !
वृन्दाबन मैं रास रच्यौ है, सरद-इन्दु-उजियारी।
मान-गुमान-लकुट लऐं ठाड़ी, डरपत कुंज-बिहारी,
"व्यास" स्वामिनी की छबि निरखत, हँसि-हँसि दे करतारी।

और तो और, अरे ! इस "विष-भरी बाँसुरी" का बजाना भी किसने सिखाया ? इस गुमान-भरी के सप्त-स्वरूपी छिद्रों पर अँगुली के बहाने चरण-पलोटना किसने सिखाया ? यह भी तो हमारी ही प्यारी का प्रताप है—उन्हीं की सुशिक्षा का सुमधुर फल है ! बकौल "श्री कृष्णदास जी" के कि—

सिखवति हरि कौं मुरली बजावन ;
सप्तरंध्र पै धरनि अँगुरि-दल, कंध बाहु धरि मधुरैं गावन।
सरस भेद, जति, राग कान्हरौ, गति बिलास, बर नैंनि नचावन ;
"कृष्णदास" बलि-बलि बैभव की, गिरिधर पिय-प्यारी मनभावन।

कौन सी मुरली ? वही, वही ! जिसके लिये "ग्वाल कवि" अधीर हो किसी गोपिका द्वारा पुछवाते हैं कि—

और बिष जेते, तेते प्रान के हरैया होत,

पर—

बंसी के कढ़े की कभू आइ ना लहर है ;

क्योंकि—

सुनति ही रौंम-रौंम रीझि जाइ एरी दैया !

और—

जौंम जारि डारे, पारे बेकली गहर है।

अस्तु—

"ग्वाल" कवि तोसौं लाल! जोरि कर पूँछति हौं,

साँचु कहि दीजे जो पै मो पै महर है ;

हाँ-हाँ बताओ कि—

बाँस मैं, कि बेध मैं, कि फूँक मैं, कि होठ मैं, कि-

आँगुरी की दाब में, कि धुनि मैं जहर है।

अथवा—

कान्ह ! तैनैं कामरू की करामात सीखी कब;

कब सौं जगाई जोरि जंत्रन की जोति है ;

कौंन कंदरा मैं बैठि करे करतूत-कला,

कौंन से परब ! सिद्ध कियौ मंत्र-गोति है।

"ग्वाल" कवि गोपिन के मन खैंचिबे के लिएँ,

बंसी एक नाली ताकी हरत उदोत है ;

दस-नाली थंभन कौं, उचाटिबे कौं सत-नाली,

मोहिबे कौं अजब हजार नाली होत है।

हाँ तो सरकार ! यह सब, उस "परमधन श्रीराधे नाम" का ही आधारभूत क्रिया का सुफल है, जिसे कि "विष-भरी वंशी में" मधुरता लाने के निमित्त बार-बार गाया करते हो और जिसे श्री

"शुक" ने सारे वेद, उपनिषद् के साथ यंत्र, मंत्र और तंत्र का तथ्य रूप तार अथवा सार ही नहीं सार का सार समझ कर, अपने मुख से प्रगट नहीं किया। इसी तरह आपने कोटि जन्म धारण करके जिसका पार न पाया, यह सब उसी का प्रताप है। आपकी कमनीय करामात का नहीं। अस्तु—

परम धन राधे-नाम अधार,
जाहि स्याम,मुरली मैं टेरत, सुमरत बारंबार।
जंत्र, मंत्र औ बेद, तंत्र मैं, सबै तार कौ तार,
श्री सुक प्रगट कियौ नहिं तातैं, जानि सार कौ सार।
कोटन रूप धरे नँद-नंदन, तऊ न पायौ पार,
"ब्यासदास" अब प्रगट बखानत, डारि भार मैं भार।

अजी हजरत! जाने दीजिये इन बातों को और सुनिये कि ब्रज में जो तुम्हारी दयनीय दशा—

"गोपी प्रेम की धुजा"

—कर दिया करती थीं, उससे आप महरूम नहीं है, उसे आप शायद भूले भी न होंगे। जैसे कि—

❀

देति करतार वे लाल गुपाल सौं,
पकरि ब्रज-बाल कपि ज्यौं नचावैं।
कोऊ कहै ललन! पकरावौ मोहि पाँवरी,
कोऊ कहै बलि लाल! लाऔ वह पीढ़ी;
कोऊ कहै ललन! गहावौ मोहि सौंहनी,
कोऊ कहै ललन! चढ़ि जावौ सीढ़ी।
कोऊ कहै ललन! देखौं मोर कैसैं नचैं,
कोऊ कहै ललन! भँवर कैसैं गुजारैं;

कोऊ कहै पौरि लगि दौरि आओ प्यारे लाल !
रीझि-रीझि कोऊ मौंतिन के हार वारें ।
जोई कछु कहत ब्रज-बधू ! सोइ-सोइ,—
करत, तोतरे बैन बोलन सुहावै ।
रोइ परत बस्तु जब भारी न उठत तबै,
चूम चूम जननी मुख, उर सौं लगावै । —सूर

—और इन विपुल वारदातों की शरूर भरी शिकायतें आप मैया से भी कर चुके थे । जैसे कि—

"मैया मेरी काँमर चोरि लई"
मैं बन जात चरावन गैयाँ, सूनी देखि गई (गही) ।
एकु कहै कान्हा ! तेरी काँमर, जमुना मैं जात वई (बही) ;
एकु कहै लाल ! तेरी काँमर, सुरभी खाइ लई ।
एकु कहै नाचौं मेरे अँगना, दै हौं औरु नई ;
"सूरदास" जसुमति के आँगें, अँसुवन-धार बई (बही) ।

अथवा—

तेरी सौं, सुनि-सुनि री मैया !
इनके चरित कहाँ लगि बरनौं, बूझि देखि संकरषन भैया ।
ब्याई गाइ, बछरुवा चाटति, हो पीवत हो प्रात खन धैया ;
इनहि देखि धौरी बिझुकानी, मारन कौं दौरी मोहि गैया ।
द्वै सींगन के बीच पर्‌यौ मैं, तहँ रखवारौ कोउ न सहैया ;
तेरौ पुन्न सहाइ भयौ है, उबर्‌यौ बाबा-नंद-दुहैया ।
ए जो ऊखट परीं हैं मो पै, भागि चलीं कहि दैया-दैया ;
"परमानंद" स्वामी की मैया, उर लगाइ हँसि लेति बलैया ।

किन्तु सरकार ! इतने पर भी वे प्रेम-रँगीली-रमणियाँ जिस तरह नचाती थीं—जैसा काछ कछाना चाहती थीं, वैसा ही नाच-नाचते थे और वैसा ही काछ काछते थे ! वाह—

सेस, महेस, गनेस, दिनेस, सुरेसहु जाहि निरंतर ध्यावैं ;
जाहि अनन्त, अनादि, अखंड, अछेद, अभेद, सुबेद बतावैं ।
नारद लौं सुक ब्यास रटैं, पचिहारे तऊ पुनि पार न पावैं ;
ताहि अहीर की छोहरियाँ ! छछिया भरि छाछ पै नाँच नचावैं ।

❀

गावैं गुनी गनिका, गंधर्ब औ सारद, सेस सबै गुन गावैं ;
नाम अनंत गनंत गनेस ज्यौं, ब्रह्म, त्रिलोचन पार न पावैं ।
जोगी, जती, तपसी अरु सिद्ध, निरन्तर जाहि समाधि लगावैं ;
ताहि अहीर की छोहरियाँ ! छछिया भरि छाछ पै नाँच नचावैं ।

—रसखान

भैया ! आपकी इन मनमोहक अथवा मिठाई से भी मीठी-अहीरियों का चित्त चुराने वाला चित्र—लज्जतदार-तस्वीर, फोटो, कविवर "देव" ने बड़ी सुन्दरता के साथ खींचा है। देखिये न—

माखन सौ मन, दूध सौं जोबन, है दधि तैं अधिकै उर ईठी ;
जा छवि आगें छपाकर छाछ, समेत सुधा बसुधा सब सीठी ।
नैंननि नेह चुवै कवि "देव", बुझावति बैंन बियोग-अँगीठी ;
ऐसी रसीली अहीरी अहै ? कहौ क्यौं न लगै मनमौंहनैं मीठी ।

अर्थात्—जिस गरबीली ग्वालिन का—रसीली अहिरिन का, मन-मानिक मक्खन सा, नव यौवन दूध सा, जो कि दग्ध-हृदय को दधि से भी ज्यादह सुशीतल है, और जिसकी सरस शोभा के सामने शशि छाछ सा, संसार की सुधा-सहित सम्पूर्ण मीठी वस्तुएँ सीठी हैं, नेह चुवाते नेत्र तथा जिसके "बर-बैन बुझावति बियोग अँगीठी"—सी अंगना, भला मनमोहन ! आपको क्यों न मीठी लगेगी, और क्यों न उसकी "छछिया भर छाछ" पर छबीली अदा से, मनलुभावनी—भाँति से, उसके सन्मुख नाचेंगे। क्योंकि—

या झींने-हित-तार मैं, बल ऐतौ अधिकाइ,
अखिल-लोक कौ ईस जो, जासौं बाँधौ जाइ।

—रसनिधि

अथवा—

प्रीति न काहू की काँनि बिचारै,
मारग, अपमारग बिथकित मन, को अनुसरति निबारै।
ज्यौं पावस-सरिता-जल उँमगति, सन्मुख सिंधु सिधारै;
ज्यौं नादहिं मन दऐं कुरंगन, प्रगट पारधी मारै।
नाइक निपुन नवल मौंहन बिनु, कौंन अपनपौ हारै;
"(जैश्री)हित हरिबंस" हिलग सारँग ज्यौं, सलभ सरीरहि जारै।

अस्तु, प्रेमियों की—स्नेहियों की गति, सचमुच अगम्य है। एकदम दुर्बोध है—

उमा दारु योषित की नाँई, सबै नचावत राम गुसाँई।

—तुलसीदास

—जो कि "दारु-योषित" की तरह, कठपुतलियों के सदृश समस्त संसार को, सम्पूर्ण सचराचर को, "लकड़ी के बल बन्दर" की तरह नाच नचा रहा है, आज वही गोपियों के पावन प्रेम के प्रभाव से प्रेरित होकर उनके आगे जरा सी—तनक सी अथवा "छछिया-भर छाछ" के लोभ से लुभाकर नाच रहा है, ता-ता थेई-थेई कह-कह कर बड़ी निपुणता के साथ थिरक रहा है।

नेति-नेति कहि निगम पुनि, जाहि सके नहिं जान;
नचत मनोहर छाछ हित, वही सो हरिहर आन।

—रसनिधि

कैसा अनोखा है यह प्रेम! इसकी मनोहर महिमा को कौन गा सकता है—कौन इसकी प्रभुता का पार पा सकता है। अस्तु—

प्रैंम हरी कौ रूप है, त्यौं हरि प्रैंम स्वरूप ;
एक होइ द्वै यौं लसै, ज्यौं सूरज औ धूप ।

—रसखान

अथवा—

नित्त बिचारनु जोग, रुचत उपदेस इही उर ;
परमेसुर मय प्रैंम, प्रैंममय नित परमेसुर ।

—सत्यनारायण

श्रीमान् ! इतना ही नहीं, ये आपकी अन्तःकरण-विहारिणी अहीरिनें, खरी-खरी सुनाने में भी नहीं चुकतीं थीं। अस्तु ये धीठनियें झट ही तो कह देती थीं कि—

खेत न हार, न गाँव मढैया, कान्हर डोलत ऐंड़े ;
बाप देति कर कंस राइ कौ, पूत जगाती डोलत मैंड़े ।
"चतुर्भुज" प्रभु गिरधरि हम जानति, चले जाहु किन पैंड़े ;
अरी यह को है री ! याहि दान जु दैहैं, गोबरधन कै ग्वैंड़े ।

क्यों साहब ! आपके न खेत है, न हर है, न गाँव है और न मड़ैया, लेकिन श्रीमान् तो ऐंड़े ही ऐंड़े डोलेंगे ? बाप, राजा कंस का कर-दाता और पूत जगात की जल्पना में ऐंठा जाता है। अतएव जाइये—जाइये, हम सब आपको, व आपकी करतूत को, जानते हैं। कौन हैं ये ? जो कि "गिरि-गोवर्धन के ग्वैंड़े"— रास्ते इनको दान दिया जाय ? वाह अच्छी रही !

कब चढ़े मेहरोवफ़ा के लफ़्ज़ उनके ज़ेहन पर ;
हाँ सबक़ जोरोज़फ़ा का, याद फर-फर हो गया ।

—गालिब

अस्तु नंद के लाड़िले ! ठहर, ठहर, रोज तू झगड़ता था आज मैं ही तुझसे झगड़ा करूँगी—आज मैं ही तुझसे रार मोल

लूँगी। अरे हाँ, सबेरे-ही, सबेरे मुझे रोककर खड़ी करली मानों मेरे घर में कुछ काम-काज ही नहीं है? वाह, खूब रही! अस्तु, तुम्हारे इन प्रिय सखाओं के देखते-देखते आज आपका सारा लाड़ उतार कर धरे देती हूँ; समझे साहब? जैसे कि—

अहो! तोसौं नंद-लाड़िले झगरौंगी;
मेरे सँग की दूरि जाति हैं, मटुकी पटकि कैं डगरौंगी।
भोरहिं ठाड़ी कित करी मोकौं, तुमरे जानि कछु काज न करौंगी;
तिहारे सग सखान के देखत, अब ही लाड़ उतार धरौंगी।
सूधैं दान लेहु किन मोपे, औरु कहा कछु पाँइ परौंगी;
"नंददास" प्रभु कछु न रहैगी, जब बातन उघरौंगी।

अथवा—

अब तुम लै-लै गीधे हो दान, सौंह मोहि गोधन की गोपाल;
तनक मथनियाँ औंधि जो देखौ, कहा करौं तिहि काल।
और ग्वालि सी मोकौं जानत जू! हौं करिहौं तुम्हैं निहाल;
"रामदास" प्रभु जानि देहु अब, सो घर कैसैं बचिहैं सु बन बजावत गाल।

अथवा—

कोऊ तेरौ हेरे, कहैया, सुनैया, कन्हैया!
दधि मेरौ खाइ मटुकिया फोरी, बरु प्रानन के लिबैया।
हार मेरौ तोर्‍यौ, कमल-कर मोर्‍यौ, फारी है उर की कँचुकिया;
"धोंधी" के प्रभु तुम बहु नाइक, जानैंगी सास ननँदिया।

क्यों जी, सुनते हो! यह क्या? तुम्हारा कोई कहने-सुनने वाला नहीं है, जो कि—"दधि" खाकर "मटुकिया" मेरी फोड़ दी वाह रे प्राणों के लिवैया, वाह! उर की कंचुकी को कुचल कर, और कमल सा कर मरोड़ कर, फिर हृदय के हार को तोड़ते हो? वाह बहुनायक! घर में "सास-ननदिया" जानेंगी तो न मालुम

श्रीमान के साथ-साथ मेरा भी क्या-क्या अहवाल न करेंगी; लेकिन जान लो—

"हाँसी मैं हार हर्‍यौ "रसखानि जू", जो कहुँ नैंकु तगा टुटि जैहैं;
एकुहि मौंती के मोल लला! सगरे व्रज-हाट हिं हाट बिकैहैं।

❀

नागर छैलहि गोकुल मैं, मग रोकत संग सखा ढिग तैहैं;
जाहि न ताहि दिखावति आँखि, सुकौंन गई अब तोसौं करैहैं।
हाँसी मैं हार हर्‍यौ "रसखानि जू", जो कहुँ नैंकु तगा टुटि जैहैं;
एकुहि मौंती के मोल लला! सगरे व्रज-हाट हिं हाट बिकैहैं।

और सुनो—

दानी भए नित माँगत दान, सुनैं जो पै कंस तौ बाँधे न जैहौ;
रोकत हौ बन मैं "रसखानि", पसारत हाथ घनौं दुख पैहौ।
टूटै छरा बछरादिक गोधन, जो धन है सु सबै धर दैहौ;
जैहै अभूषन जु काहू सखी कौ, तौ मोल छला के लला न बिकैहौ।

—अस्तु समझ लो लला! समझ लो! इसीलिए यह इत्तलानामा वा नोटिस, सादर स्वादर (पेश) किया जाता है कि—फिर कभी इस तरह दिन-दहाड़े डाकेजनी न किया करो! इस तरह फिर किसी को रास्ते चलते न लूटा करो! वरना सारी गिरहस्ती कुर्क हो जायगी और श्रीमान् को तो कोई "इक-छल्ले" के मोल भी तो न पूछेगा?

कोई न पूछेगा तो न पूछे! कोई नहीं खरीदेगा, न खरीदे! लेकिन भैया! यह तो बतलाओ कि—दान के बहाने किसी और बात की इच्छा तो नहीं है? जैसे कि "श्रीहरिराय" जी फर्माते हैं—

सूधे-बचन माँगिए हो......, लालन! गोरस-दाँन;
मौंहन भेद जनाइकैं, कछु कहत आँन की आँन।

—और इस बात की ताईद "सुकवि रसखानजी" भी करते हुए किसी गोपी द्वारा कहलाते हैं—

छीर जो चाहत चीर गहैं, एजू ! लेहु न केतक छीर अचैहौ ;
चाखन के मिसि माँखन माँगति, खाहु न माँखन केतक खैहौ ।

लेकिन—

जानति हौं जिय की "रसखानि" सुकाहे कौं एतक बात बढ़ैहौ ;
गोरस के मिसि जो रस चाँहत, सो रस लालजू ! नैंकु न पैहौ ।

और, कविवर विहारीलाल जी भी कहते हैं कि—

लाज गहौ बे-काज कत, घेर रहे घर जाहिं ;
गो-रस चाँहत फिरत हौ, गोरस चाँहत नाहिं ।

अर्थात्—किसी गरबीली-ग्वालिन से श्री कृष्ण दान पाने की याचना कर रहे हैं, अथवा "बतरस"—बातों के सुरस में लगे हुए बार-बार माँग रहे हैं—झगड़ रहे हैं, इस पर गोपी कहती हैं कि, "तुम्हें लाज नहीं आती ? अकाज ही, बिला काम-काज के ही नाँहक घेर रहे हो—रोक रहे, चलो हटो ! घर जाने दो ! हाँ-हाँ समझ लिया आप गोरस नहीं चाहते अपितु गो-रस यानी इन्द्रियों का रस चाहते हो ? अस्तु—

"सो रस लाल जू ! नैंकु न पैहौ"

हाँ-हाँ लीजिये न, चीर गहकर कितना क्षीर चाहते हैं ? लीजिये-लीजिये ! और चखने के बहाने जो माँखन माँगते हो वह भी लो, जितना चाहिये उतना लो न ! लेकिन हे रस की खान ! गोरस के बहाने जो और रस की अभिलाषा इच्छित है उसके लिए ललन ! ललचाते ही रहो, वह नहीं मिलने का, नहीं मिलने का !

उल्फ़त जता के दोस्त को दुश्मन बना लिया ;
"बेखुद" तुम्हारी अक्ल के कुरबान जाइये ।

अथवा—

करके इज़हार बेकली दिल की ,
बात खोदी, रही सही दिल की । —कोई शायर

भैया ! यह बात नहीं, यह खयाल गलत नहीं, कि किसी से दिल का लगाना बुरा है—किसी के प्रेम में प्रयुत्य होना अनुचित है ? नहीं नहीं ! यह बात नहीं ! लाला ! बुरा तो—अनुचित तो मुहब्बत का, प्रेम का, जतलाना है, बतलाना है—

गलत है कि दिल का लगाना बुरा है ,
मुहब्बत का लेकिन जताना बुरा है ।
—दाग़

अजी सरकार ! उल्फत जतलाकर प्रेमिक को दुश्मन बनाना है—खुशामद की खूबी में गर्क होकर, प्यारे की आदत को बिगाड़ना है ? जैसे कि—

खुशामद से बिगाड़ा आप हमने उसकी आदत को ,
बनाया अपना दुश्मन खुद जताकर अपनी उल्फ़त को ।
—नादिर

—इस लिये अब कृपया ऐसी मुहब्बत जतलाने के बहाने "नादिहन्दपना" न किया करो, नहीं तो सारी गिरहस्ती तो कुर्क होगी ही, ऊपर से श्रीमान् की फरोख्तगीरी में खप्त हो—इक-छल्ले के एवज में ही सही—कोई खरीदार खोजना पड़ेगा । एक बला से बचने के लिये दूसरी बला, मोल लेनी पड़ेगी । समझे साहब ! समझे न...

लेकिन यार ! तुम्हारे खरीदने वाले खरीदार की कम्बख्ती ही समझो, क्योंकि जिस-जिस ने इन प्यारी-प्यारी मतंग सी मतवाली अँखियों से आँख मिलाई कि प्राणों के लाले पड़े ? जैसे कि—

मादर, पिदर, बिरादर, मादर, बिना काम के मानें ;
सुख से गुजर होत, कै दुख से, दिल उनही का जानें ।

अथवा—

के जानें खुद बखुद पीर तू "सहचरि-शरण" बखानें ;
क्या बलाय तेरे चश्मों में, आशिक किये दिवानें ।

❀

तीखे नैंन कन्हाई ! पल-पल खून करंदे ,
भौहैं तो कमान तानी, पलकैं—तीर परंदे ।
कित्ते घाइल परे कराहै, दिल नहीं धीर धरंदे ;
"रसिक-बिहारी" नित बार करंदे, टारे नहीं टरंदे ।

❀

जादूगर रे ! थारे नैंन ,
भवाँ-कमाँन तान करि तैनैं, तिरछी मारी सैंन ।
लगी करेजे मैं बरछी सी, घाइल कीनीं ऐंन ;
"जुगल-बिहारी" के बिनु देखैं, रचक परत न चैंन ।

❀

नैंनौं की मारी री ! कटारी ,
सुनियो री मेरी पार-परौसिन, ढीट भयौ गिरिधारी ।
सासु बुरी, घर नँनद हठीली, देबर सुनि देइ गारी ,
"मधुर-अली" घर जात बनैंना, पीर उठी अति भारी ।

❀

कमल सी अँखियाँ लाल तिहारी ,
तिन सौं तक-तक तीर चलावत, बेधत छतियाँ आँन हमारी ।
इन्हैं कहा कोउ दोष लगावत, ए अजहुँ न सँभारी ;
"श्री बिट्ठल" गिरधारि-कृपा-निधि, सूरत ही सुखकारी ।

❀

मौंहन के अति नैंन नुकीले ,
निकरें जाइ पार हियरा के, निरखत निपट गँसीले।
ना जानौं बेधन अनियनु की, तीन लोक तैं न्यारी ;
ज्यौं-ज्यौं छिदति मिठाति हिए मैं, सुख लागत सुकुमारी।
जब सौं जमुना-कूल बिलोक्यौ, तब सौं नींद न आवै ;
उठति मरोर बंक चितवनियाँ, उर उतपात मचावै।
आग लगौ इहि लाज निगोड़ी, दग भरि स्याम निहारौं ,
'ललित-किसोरी' आजु मिलैं तौ, सब कुल-काँनि बिसारौं।

❀

ए-अँखियाँ, प्यारे ! जुलम करैं ,
ए मरहैटी, लाज लपेटी, झुकि-झुकि घूमैं झूमि परैं।
नगधर प्यारे ! होहु न न्यारे, हा-हा तोसौं कोटि ररैं ,
"राजसिंघ" कौ स्वामी नगधर, बिनु देखैं दिन कठिन हरैं।

❀

नागरी ! नागर के नैंन अनियारे ,
अति अनूप निज रूप निहारे, परम प्रान-प्रिय प्रीतम प्यारे।
भ्रकुटि मरोरत गूढ़ भाव सौं, डोरा कोर प्रेंम-फँदवारे ,
अरुन-बरन पैंने रस-भींने, चिकने ललित प्रीति-प्रन पारे।
पलक-ललक मनु अलिन नलिन ए, प्रात मुदित, हित पंख पसारे ,
अंजन अमिल रेख ईषद लसि, बसि नागिन मनु खंजन गारे।*

❀ खंजन की खूबी से खचित प्यारे की रसीली आँखों का वर्णन "शीतलजी" से भी सुनने लायक है। यथा—

जुग पलक झलक सो जाल-रंध्र, बरुनी रेशम के जाले से ;
चित-चोर तरल, तीखी चितवन, सो अंकुश बलित सभाले से।
दृग-चाह डोर की लहर लगी, नेही खग-पति का डाले से ;
मुख शशी पीजरे में लीये, दृग तीक्ष्ण खंजन पाले से।

चंचल कमल ललित परफुल्लित, अद्भुत-गति निरखत रस-भारे।
"श्रीभट" सुरत-समर मैं कोबिद, मुरत न नैंकु सँवारे।

जनाब! सिर्फ आपकी इन नुकीले नैनो के शिकवे का शोर ही नहीं है; अपितु श्रीमान् के अंग-प्रत्यंगों ने भी कुछ कम ऊधम नहीं उठा रक्खा? अजी! जिसने जिस ओर देख लिया, बस, कहर मच गया—जी तड़प कर वहीं रह गया। जैसे—

कोटि काम लावन्य, अंग सुख-दैंन जु हित के;
जे तित दौरे परे, ते भए तित हीं तित के।

अथवा—

जो अलकन-छबि उरझे, ते अजहूँ नहिं सुरझे;
ललित लसै सिर पाग, तकैं तक तहँ-तहँ हीं मुरझे।

देखिये आपकी "जुल्फ़" जहर की ज्वाला से दग्ध "सहचरी शरण" जी क्या कहते हैं। यथा—

नहिं उतरेगा "मैर" उतारे नित-प्रति अधिक भरेंगी,
लहिरावत अति बाँकी एतौ, मंत्रादिक न चरेंगी।
निरखत कहा तोहिं डसि हैं जब सुधि-बुधि सकल हरेंगी,
रसिक "सहचरी शरण" नागिनें जुल्फें जुलम करेंगी।

—और इस पर शीतल जी का शोर भी सुनने लायक है। जैसे कि—

अथवा—

गुणवारे अरुण जाल-डोरे, दृग भरे हुए बेपीरी के;
पंकज पर दिनकर की किरणें, छींटे मनमथ की बीरी के।
वै हैं गुलाब में उदै हुए, अंकुर केसर-कश्मीरी के;
खंजन के गल मे पड़े हुए गुच्छे-दाड़िम-दल चीरी के।

कारी, सटकारी लहरदार, दिल देखत लगतीं अच्छी हैं,
दिया तेल, फुलेल, अतर आला, खुशबोई दे बिच मची हैं।
ये निकसे श्रीन-बाँवई से, उपमा सब इनकी कच्ची हैं,
जुल्फ़ें इस "लाल बिहारी" की, क्या सिर्फ नागदी-बच्ची हैं।

❀

कारी, सटकारी लहरदार, छबिदार अतर से पाली हैं,
मखतूल, नीलमणि, चंचरीक, उपमा के जी में साली हैं।
कर साफ अतर से मुखड़े पर, बेतरह पेचवाँ डाली हैं,
इस "लाल-बिहारी" की जुल्फें, मत छेड़ नागिनी काली हैं।

❀

बँबई कानों से कढ़ी हुई, देखत ही चित में पैठी हैं,
मोती से निकलीं उरझ रहीं, चुन्नी ले मुख में ऐंठी हैं।
नीलम के तार सिवार किधौं, छबि चंचरीक की भैंठी हैं,
जुल्फें इस "लाल-बिहारी" की, मणिदार नागिनी बैठी हैं।

❀

मखतूल, नीलमणि, चंचरीक, सब की उपमा को पेलें हैं,
मुख शरद-चंद्र से लगी हुईं, क्या सम्बुल की सी बेलें हैं।
लहराती हुई नज़र आईं, दिल में ज़हरों की रेलें हैं,
रुख़सार हेम के थालों पर, दो चढ़ी नागिनी खेलें हैं।

अस्तु—

लट-घुँघरारी निरखि, सु मौंहन भेंट भए हैं,
दोऊ दगन-छबि गिनत, गिनावत ही जुर रए हैं।

❀

कोऊ लखि ललित-कपोलन, मधुरी-बोलन अटके,
परे ज्यों मद-गज चहले, दहले फेरि न मटके।

❀

कोउ जु रहे चकचौंधि, रुचिर पीताम्बर छबि पर,
मनौं छबीली छटा, थिरकि रही सुन्दर घन पर।

पीताम्बर की फबीली-फबन पर विहारीलाल जी की भी एक अनुपम-उक्ति है, यथा—

सोहत ओढ़ैं पीत-पट, स्याम सलौंने-गात,
मनौं नील-मनि-सैल पर, आतप पर्‌यौ प्रभात।

अतः—

कोऊ इक नैंननि अटकि गए, ह्वै लोभ-लुभारे,
भरे-भवन के चोर भए, बदलत ही हारे।

❀

कोऊ जु रुचिर चरनारबिंद मकरंद सुहाए,
चंप-माल सिसुपाल परसि अलि बहुरन आए।

— रुक्मिणीमंगल

अथवा—

कोई आँखों ने मार लिया, उसको नरगिसी बखानी हैं,
कोई जुल्फों के पेच तले, नागिन की कहे कहानी हैं।
कोई हँसने के बीच बिका, झमकानि रूप सुखदानी हैं,
आखिर को निश्चय हुवा नहीं, तेरा सा तूही जानी हैं।

— आनन्द-चमन

—और मोहन! ❀ आपकी मंद-मधुर-मुसिक्यान ने जो कुहराम मचाया—इसकी निराली अदा ने, जो उत्पात उठाया? उसकी हृदय-हारी, हकीकत भी सुन लीजिये। जैसे कि—

❀ मोहन शब्द की व्युत्पत्ति पर "रस-निधिजी" ने बड़ा गजब ढाया है। यथा—

मोहन तेरे नाम कौ, लखौ वा दिना छोर,
ब्रज-बासिन कौं मोहि जब, चले मधुपुरी-ओर।

लखी जिनि लाल की मुसिकाँन ;
तिनहिं बिसरी बेद-बिधि, जप, जोग, संजम, ध्यान ।
नैंम, ब्रत, आचार, पूंजा, पाठ, गीता-ग्यान ;
"रसिक-भगवत" दृग दई असि, ऐंचिकैं मुख-म्यान ।

अर्थात्—जिसने यह मंद-मंद मधुर मुसकान लखी फिर क्या वह किसी काम का रहा ? वेद-विहित जप, तप, संयम, जोग, नेम, व्रत, आचार, पूजा, पाठ वगैरह कहीं मुख-म्यान से निकली तलवार रूप मुसकान के सामने ठहर सकते हैं ?

कहते हैं जिसको ब्रह्म-तत्व, अरु अज अनीह अविनाशी है,
तीनों गुण, पाँचौ तत्व परे सब विश्वरूप का बासी है ।
सुनि लाल-बिहारी ललित-ललन ! यह बात चित्त में भासी है ।
मुख-शरदचन्द्र विश्वेस्वर सा, जानी बिहँसन ही काशी है ।

—आनन्द-चमन

मोहन की मधुर मुसकान पर "युगल-सखी" की तिलस्माती रचना भी सुन लीजिये । यथा—

मौंहन-मुसिक्यान लगै सोई जानैं ;
ठाड़ी हुती मैं अपनी पौर मैं, औचक निकस्यौ आन,
हेरन, हँसन, माधुरी लागै, मनमथ जैसौ बान ।
—सखी कोई घाव न जानैं ।
घाइल भई मृगी ज्यौं डोलौं, परी भूमि पै आन,
जन्त्र मंत्र औषधि ल्यावौ कोइ, भूल्यौ सबहि अपान ।
—करौ कोई जतन सयानैं ॥
छूटि रही अलकैं घुँघराली, कुंडल झलकत कान,
जानत है वे पीर हमारी, "जुगल-सखी" के प्रान ।
—कहौ कोऊ भेद न जानैं ॥

अस्तु, मोरे भैया ! इस दरो-दीवार को लुभाने वाले* रूप रहचटे † की रहनुमाई के साथ बे-लगाम से न डोला करो, इस तरह गली-गलियारे न घूमा करो—पैंडा रोक कर खड़े न हुवा करो, क्योंकि यह सकरा मार्ग—रास्ता, गरीवनी ग्वालिनों के आने-जाने का है। वह आपके इस मनलुभावन रूप-रखवालिया के सामने न आकर दूर ही से डरती हुई कहतीं हैं कि—

ए, तुम पैंड़ोई रोकैं रहत, कैसैं कै आवैं जाँइ ब्रज-बधू,
तुमहीं बिचारि देखौ परम सुजान।
खिरक-दुहावन दिन-चढ़ि आयौ चहैं,
ऐसैं कैसैं बनैं गुसाँई ! इत-उत गेहबर गैल हू न आँन।
ऐसी अटपटी कित गहौ जू लाड़िले कुँवर-वर !
जो कबहूँ परि है ब्रज-राज-काँन ;
"गोबिंद" प्रभु प्यारी की सखि ? तुम धौं नैंकु—
इत उतरौ हमहिं देहु जाँन।

—प्यारे ! उतर आइये न, और हमें जाने दीजिये न, क्योंकि दोनों तरफ गहवर-बन के कारण दूसरा रास्ता भी नहीं है, और आप टलने का नाम ही नहीं लेते, भला यह भी कोई भलमनसाहत

---

* मृदु-पद-पंकज गुल्फ अनूपम, अलक़ लंक रसना की,
उर भुज-दंड, बसन, भूषन, तन, चिबुक-चमक चहुँघा की।
भृकुटि-कमा सुखमा सुमुखादिक, दृग बादाम जुमा की;
"दर-दिवार" मुश्ताक हुए सखि ! अय किशोर लखि झाँकी।
—सहचरिशरण

† कन देवौ सौंप्यौ ससुर, बहू थुर-हथी जाँन,
"रूप-रहचटे" लग लग्यौ, माँगन सब जग आँन।
—विहारी

है ? अस्तु, हटिये, हटिये ! अटपटी बाँन छोड़िये ! यदि कहीं व्रजरायजी के कान यह अनोखे हठीलेपन की हकीकत पड़ जायगी तो बस जान लो ? अतः—

हम तो आशिक हैं तेरे, नाज उठाने वाले ;
तुमसे कब देखे हैं, महबूब सताने वाले।
बन्द कर क़ैदे—मोहब्बत में खबर मेरी न ली ;
दाम में जिसके फँसे, दाम-छुड़ाने वाले। —नज़ीर

प्यारे नटवर ! आपके अब यह चपल चोचले और अधिक दिन न चलेंगे, क्योंकि—काफ़ी कलई खुल चुकी है, विशेष पर्दा-फाँस हो चुका है—"उतरा सहना, मर्दक नाम" * निनादित हो चुका है, इस लिये अब और अधिक आपकी काली कर्तूतवाली काली-कलूटी काठ की हाँड़ी न चढ़ सकेगी ? बकौल "वृन्द जी" के कि—

फेर न ह्वै है कपट सौं, जो कीजै ब्यौहार,
जैसें हाँड़ी काठ की, चढ़ै न दूजी बार।

आनकदुन्दुभी ! जब आप, बाप—वसुदेव के सिर चढ़कर मथुरा से व्रज पधारे थे, तब ही लोग वागों ने ताड़ लिया था कि यह सिर

* तिय-तन झलक्यौ जोबन-भूप, चल्यौ चहँत सिसुताई-रूप ;
कहैं पखानौं जो बुधि-धाम, उतरयौ सहना मर्दक-नाम।
—लोकोक्ति-रस-कौमुदी

अथवा—

सदाँ न निभै कपट ब्यौहार, कछु दिन जदपि लुभत संसार ;
भेद-खुलत निन्दा सब ठाँव, "उतरा-सहना, मर्दक नाँव"।
—लोकोक्ति-कोष

चढ़ा लड़का अधिक चालाक और चंट होगा, निहायत "फ़रेबी" होगा—बड़ा चोचलेबाज होगा, सो सब सामने आ गया ! यद्यपि आपने अपने दर्शनीय दोषों को बड़ी दूरन्देशी के साथ हमेशा ही चालाकी से छिपाया, पर वे न छिपे ! न छिपे ! अस्तु—

"उज़्रे-गुनाह बद्तर अज़-गुनाह"

—लोकोक्ति-कोष

अर्थात्, गुनाह (दोष) को छिपाना गुनाह करने से बद्तर—दोष करने से ज्यादह है, पर आप अपनी मनभावनी बेजा हरकतों से बाज क्यों आने लगे ? लेकिन प्यारे नटखट ! ये आपके अंगीकृत किये "जन" भी तो कुछ कम चालाक और चंट नहीं है। एक ही थैली के चट्टे-बट्टे * से हैं। हाँ-हाँ हजरत ! आप डाल-डाल और ये पात-पात † वाला मामला सा सठा-गँठा है !

पारसा बन के "रियाज़", आये हैं मैखाने में,
उफ़......बैठे हैं, बचाये हुए दामन कैसा।

* जान जाये हाथ से जाये न सत,
है यही बात एक, हर मज़हब का तत।
"चट्टे-बट्टे एक ही थैली के हैं"
साहूकारी, बिस्वेदारी, सल्तनत।

—इकबाल

† हौं नीकैं जानत री आली ! तेरे हिए की बात,
सकल घोष-जुबतिन कौ सरबसु, तैं ही हर्यौ री अरी ! साँवरे गात।
जाकौ कारज करत विधाता, ताहि न काहू की परवाह, कोहू करौरी पाँच-सात ;
"गोबिंद" प्रभु-निधि नीकौ-धन पायो औ छिपायौ, गोसौ कित दुरत हैं री—
"जो तू डार-डार, तो हौं हू पात-पात।"

—अस्तु, हाँ तो फिर आपही कह दो न कि श्रीमान् की कौन-कौन सी चाल छिपी रही—किस-किसकी बेपर्दगी नहीं हुई ! हाँ-हाँ बतलाइये न, कि किस-किसका राज नहीं खुला ! सर्वस्व धन ! सुनने में आया है कि आप माँखन व दही की चोरी में पूरे "एक्सपर्ट" थे, कुशल थे—गो यकता थे, पर "बेदाग" इसमें भी न बच सके ! चालाकी और चंटपने में चाहे लाख यकता रहे हो, पर यहाँ वह एक भी काम न आ सकी। अरे, यहाँ तक कि इस विद्या के अपूर्व आचार्य्य होते हुए भी—पकड़े गये, बाँधे गये और न जाने क्या-क्या किये गये। कौन-कौन सी कुगति श्रीमान् की नहीं हुई ? बतलाइये न, आपकी इस गुनन गरूरली एवं—

"गुण-गण-गरिमा गरीयसी"

—सी गुणावली की गाथा को "श्री सूर" ने बड़े ही शरूर भरे शब्दों में गायी है। देखिये न, जैसे—

"करत हरि ग्वालन-संग बिचार,"
चोरी माँखन खाहु सबै मिलि, करिऐ बाल-बिहार।

अर्थात—एक दफे आपने अपने परम प्रिय ग्वाल-बालों की "वर्किंग-कमेटी" के प्रमुख-आसन से सब के सामने, श्रीमान ने यह "रेगुलेशन" रखा कि—

चोरी-माँखन खाहु सबै मिलि, करिऐ बाल-बिहार।

—अस्तु भैया ! सुनते हैं कि आधुनिक युग की सभा-सुसायटियों में सभापति के प्रस्ताव पर—मजलिसे-मीर के मुखालिफ, कोई उज्र उपस्थित नहीं किया जाता ? अतः—

यह सुनत सब सखा हरखे, कहत जु भली कन्हाई ;
हँसि-हँसि देति परसपर तारी, सौंह करी नँदराई।

—की तरह हिप्-हिप् हुर्रे, हिप्-हिप् हुर्रे अथवा धन्यवाद-धन्यवाद के अनन्त निनाद में सब आपकी इस सूझ-बूझ की विपुल बड़ाई करते हुए कहने लगे कि—

पाई कहाँ बुद्धि तुम इतनी, स्याम चतुर सुजान ;
"सूर" प्रभु मिलि ग्वाल-बालहि, करति हैं अनुमान ।

उक्त प्रस्ताव, पास होने के उपरान्त तुरंत ही कार्यरूप में परिणत होने लगा ! जैसे कि—

सखा-सहित गए, माँखन चोरी ,
देख्यौ स्याम गवाच्छ-पंथ ह्वैं, गोपी मथत एकु दधि ओरी ।
लखी मँथानी धरी माँटु तैं, माँखन हो उतरात ;
आपुन गई कमोरी माँगन, हरि पाई तब घात ।
पैंठे सखन-सहित घर सूने, माँखन, दधि सब खाई ;
छूछी छाँड़ि मटुकिया दधि की, हँसि सब बाहर आई ।

पर, यह क्या माखन-दधि खा-खा कर ग्वाल-मंडली बाहर आना ही चाहती थी कि—

आइ गई कर लएँ मटुकिया, (और) घर तैं निकरे ग्वाल ;

किस तरह—

माँखन कर दधिमुख लपटानौं, निरखे नँद के लाल ।
कहति आजु क्यौं ब्रज-बालक सँग, दधि-माँखन लपटानौं ;
देखति तैं उठि भजौ सखा इक, इहि घर आइ छिपानौं ।
भुज गहि लयौ कान्ह इक बालक, निकसे ब्रज की खोर ; ❀
"सूरदास" प्रभु ठगि रही ग्वालिन, मन हरि लयौ अँजोर ।

❀ कुछ ऐसे ही अनूठे बहारदार बहाने का विशद वर्णन नारायण स्वामी ने भी किया है । यथा——

तदनन्तर—

चकित भई ग्वालिनि घर हेर्‌यौ,
माँखनु छाड़ि गई ही बैसैंहि, नैंकु न कियौ अबेर्‌यो।
देखी आइ मटुकिया रीती! मैं राख्यौ इहि हेरी,
चकित भई ग्वालिनि मन अपने, ढति घर फिरि फेरी।
देखति पुनि-पुनि घर के बासन, मन हर लयौ गुपाल,
"सूरदास" रस भरी ग्वालिनी, जाने हरि के ख्याल।

माखन चोर! सुनते हैं कि "सौ दिन चोर के" तो "एक दिन शाह" का भी होता है अर्थात् कभी-न-कभी कलई खुल ही जाती है। अतः एक दिन—

"चोरी करत कान्ह! धरि पाए",

अर्थात्—एक दिन आखिरकार चोरी करते हुए श्रीमान् पकड़े ही गये, तब तो ग्वालिन कहने लगी कि—

निसि बासर मोहि बहुत सतायौ, अब तुम हाथहि आए।
माँखन दधि मेरौ सब खायौ, बहुत अचगरी कीन्हीं,
अब तौ हाथ परे हौ मौहन! तुमहि भलैं मैं चीन्हीं।
दोउभुज पकरि कह्यौ ग्वालिनि तब, माँखन लेहु मँगाइ,
तेरी सौं मैं नैंकु न चाख्यौ, सखा गए सब खाइ।

मैं कहा कहौं, कछु कही न जावै,
ऐसौ समौं कबहु नहिं देख्यं, कीजे भलौ बुराई आवै।
तो छीके इक चढ़ी बिलैया, माँखन-मटुकी भूमि गिरावै;
ताहि बिडारि करौ रखवारी, याहू पै मोहि दोष लगावै।
यही समझि कैं सखा बुलाए, मति कहूँ ग्वालिनि फैल मचावै,
"नराइन" ए साख भरेंगे, घर बुलाइकै चोर बनावै।

—अतएव इस तुर्त-फुर्त की हृदय हर्षा देनेवाली हाजिर जवाबी पर "श्री सूर" गोपी से कहलाते हैं कि—

मुख, तन चितै बिहँसि दीनी री ! रिस तब गई बुझाई ,
लए स्याम उर लाइ ग्वालिनी, "सूरदास" बलि जाइ ।

लालन ! इस हँसी पर कुर्बान हो जाइये कुर्बान ! आह भैया ! आज इस चित्त चुराने वाली हँसी ने ही सारी लाज रख ली— सारे अदब बनाये रखे, नहीं तो राज खुल ही चुका था, फिर न जाने क्या गति होती ?

जिस पै बीती हो यह वही जाने ,
जोकि बेदर्द हो वह क्या जाने । —कोई शायर

लेकिन फिर भी—

चली ब्रज, घर घर मैं यह बात ,
नंद-सुत सँग सखा लीऐं, चोरि माँखन खात ।
कोउ कहै मेरे भवन भीतरु, अबहिं पैठौं धाइ ;
कोउ कहति मोहि देखि द्वारैं, तुरत गए पराइ ।
कोउ कहति किहि भाँति देखौं, हरिहिं अपने धाम ,
हेरि माँखन देंहुँ आछौ, खाँइ जितनौं स्याम ।
कोउ कहति मैं बाँधि राखौं, को सकै निरबार ,
कोउ कहति मैं देखि पाँऊँ, धरौं भरि अँकवार ।
जोरि कर बिधि कौं मनावति, पुरुष नंद-कुमार ,
"सूर" प्रभु के मिलन कारन, करत बुद्धि-बिचार ।

दादा ! आपकी चित्ताकर्षक चोरी की रमणीय "रिपोर्ट" एक दिन बड़ी सुन्दर मिली ! उस दिन शायद आप अकेले ही किसी ग्वालिन के यहाँ पधारे थे । अस्तु मणि-खम्ब के निकट भरी-भराई कमोरी निरख रपट पड़े और लगे दोनो-दोनो हाथों से माखन

भकोसने । ज्यों ही इत-उत सशङ्कित लोचनो से झाँकते हुए सामने मणि-स्तम्भ से चार आँखें हुईं कि प्रतिबिम्ब स्वरूप अपना ही जैसा सखा और एक खड़ा देखा । अस्तु, देखकर, चोरी खुल जाने के भय से डर गये और यकायक कुछ करते व कहते न बना, तदुपरान्त कुछ ढाढ़स बाँधकर अनुनय-विनय के साथ कहने लगे कि वाह भैया ! हमारी-तेरी जोड़ी, "चोर-चोर मौसेरे भाई" जैसी खूब-सुन्दर मिली ! अस्तु, आओ आज से हमारा-तुम्हारा आधा-आधा हिस्सा मौजूदा माल में हमेशा रहा और यह कहकर उसे माखन देने लगे, लेकिन प्रतिबिम्ब कहीं शरीरधारी-जैसा आचरण करता है ? लेन-देन में कहीं मुब्तला होता है ? अतः उसके ग्रहण न करने के कारण, बीच में ही गिरजाने पर सब-का-सब देते हुए कहने लगे कि भैया ! क्या सारा-का-सारा लेना चाहते हो ? अच्छा यही सही, पर बात यह है बेजा ? भला चोरी साथ-साथ करें हम-तुम दोनों, और सारे माल पर कब्जा करें आप ? अतः दोस्ती निभेगी नहीं । ऐ दादा ! रूठते क्यों हो अच्छा सारा भलेही ले लो इत्यादि–इत्यादि—

अतः इस मनमोहक मजे में मखमूर वह गोपबाला श्री सूर के सुन्दर शब्दों के सहारे कहती है कि—

आजु हरि ! मनि-खंभ निकट, करत रहे गोरस की गोरी ,
निज प्रतिबिम्ब सिखावति सिसु ज्यौं, प्रगट करै जिनि चोरी ।
अरध, बिभागु आजुतैं हम-तुम, भली बनी है दोउन जोरी ,
माँखन खाहु डरत काहे हौ, छाँडि देहु यहै मति भोरी ।
हिस्सा सबै लैन चाँहत हौ, यहै बात कछु है नहिं थोरी ;
मींठौ अधिक परम रुचिकारी, लागत है दैहुँ काढि कमोरी ।

प्रेम-उँमगि धीरज नहिं धारौ, हँसी प्रगट मुख मोरी,
"सूरदास" प्रभु सकुचि निरखि, मुख भजे कुंज की ओरी।

वाह! भोलापन का कैसा दिव्य दर्शन है—कितना "फसहात" भरा वर्णन है, वाह!

भोलेपन से पूछते हैं, तेरी खातर क्या करें,
इस महल पर राजे-दिल, हम उनसे जाहिर क्या करें।
—कोई शायर

चतुर चूड़ामणि! और लो, आपके इस मनचले "सूर" ने माखन खाते समय का चारु चित्र, हृदय की प्याली में जोशेजवानी का रंग घोल कर भाव की कमनीय कूंची की कृपा से बड़ा अनोखा खींचा है, देखिये न जैसे कि—

गोपाल! दुरैं-दुरैं माँखन खात,
देखि सखी! सोभा जु बनी हैं, स्याम मनोहर गात।
उठि अबलोकि ओट ठाढ़े ह्वै, बहु बिधि सौं लखि लेति।
चकित बदन चितबत चहुँ दिसिलौं, औरु सखन कौं देति।
सुन्दर कर आनन समीप अति, राजत इहि आकार;
मनु सरोज बिधु-बैर बंचि करि, मिळत लएँ उपहार।
गिरि-गिरि परत बदन के ऊपर, ह्वै दधि-सुत के बिन्दु;
मानौं सुभग सुधा कन बरखत, बिलम्यौ आगम इन्दु।
फुरै न बचन बरजिवे कारज, रही बिचारि-बिचारि;
बाल-बिनोद बिलोकि "सूर" प्रभु, सिथिल भई ब्रज-नारि। ※

※ माखन व दधि की चोरी का "पद्माकर" जी ने भी बड़ा मनोहर चित्र चित्रित किया है, यथा—

चितै-चितै चारौं ओर चौंकि-चौंकि परै त्यौं ही—
ज्यौंहीं जहाँ—तहाँ जब खरकत पात है;